DELHI UNIVERSITY
LIBRARY

DELHI UNIVERSITY LIBRARY

Cl. No. V2:25wm9 158 H2

Ac. No. 53030

Date of release for loan
20 MAR 1962

This book should be returned on or before the date last stamped below. An overdue charge of 0.6 nP. will be charged for each day the book is kept overtime.

गांधी-ग्रंथमाला—पाँचवाँ पुष्प

सेवाग्राम की विभूतियाँ

लेखक

श्रीललितप्रसाद श्रीवास्तव

—:❀❀:—

मिलने का पता—

राष्ट्रीय प्रकाशन मण्डल

१९४८ } प्रथम संस्करण { मूल्य १।=)

प्रकाशक
श्रीराजकुमार भार्गव
अध्यक्ष राष्ट्रीय प्रकाशन-मंडल
मछुआ-टोली, पटना

मिलने के अन्य पते

1. गंगा-पुस्तकमाला, ३६, लाटूश रोड, लखनऊ
2. दिल्ली-ग्रंथागार, १६२३, चर्खेवालाँ, दिल्ली
3. प्रयाग-ग्रंथागार, ४०, क्रास्थवेट रोड, प्रयाग

नोट—हमारी सब पुस्तकें इनके अलावा हिंदुस्थान-भर के सब प्रधान बुकसेलरों के यहाँ मिलती हैं। जिन बुकसेलरों के यहाँ न मिलें, उनका नाम-पता हमें लिखें।

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

दो शब्द

विश्व-वंद्य महात्मा गांधी द्वारा स्थापित सेवाग्राम और उनके चारों ओर प्रकाशित होनेवाले उस सौर मंडल का इस में पुस्तक परिचय देने का प्रयास किया गया है, जिसके द्वारा स्वयं बापू भी समय-समय पर प्रेरणा ग्रहण किया करते थे। इसमें आश्चर्य के लिये कोई स्थान नहीं, यह सभी जानते हैं कि महर्षि दत्तात्रेय ने जड़ वस्तुओं तथा वेश्या तक को अपना गुरु मानकर उनके गुण ग्रहण किए थे। इसीलिये प्रस्तुत पुस्तक में जन्म-मरण या जन्म-स्थान आदि का लेखा तो कम मिलेगा, किंतु उनकी विशेषताओं पर प्रकाश ही अधिक मात्रा में प्राप्त हो सकेगा। लेखक ने प्रत्येक विभूति को अति निकट से देखा है, इसलिये वह आश्वस्त है कि उसने जो कुछ भी उनके संबंध में लिखा है, उससे पाठकों को पर्याप्त लाभ हो सकेगा। अस्तु, यह विश्वास ही लेखक को अपना परिश्रम सफल मानने के लिये बाध्य करता है।

सेवाग्राम की विभूतियों में से अधिकांश लेख 'राम-राज्य' (साप्ताहिक, कानपुर) में क्रमशः प्रकाशित भी हो चुके हैं। मैं स्पष्टतः अपने सहृदय बंधु श्रीरामनाथ गुप्त बी० ए० का, जो उक्त पत्र के प्रधान संपादक हैं, आभार मानता हूँ, जिनकी प्रेरणा एवं कृपा के कारण ही यह पुस्तक उपस्थित कर सका हूँ।

कल्पना-कुटीर
अमावस्या, आषाढ़ कृष्ण पक्ष
संवत् २००५ वि०

विनीत—
ललितप्रसाद श्रीवास्तव

सूची

	पृष्ठ
१. राष्ट्रीय राजधानी वर्धा	१
२. वर्धा की प्रमुख संस्थाएँ	५
३. सेवाग्राम की संस्थाएँ	२८
४. बापू और बा	३७
५. स्व० जमनालाल बजाज	३९
६. स्व० महादेव हरिभाई देसाई	६०
७. आचार्य विनोबा भावे	६८
८. कुमारप्पा-बंधु	८३
९. स्व० परचुरे शास्त्री	९१
१०. श्रीकेशव भाई	९९
११. श्रीश्रीकृष्णदास जाजू	१०७
१२. काका कालेलकर	११२
१३. मीरा बहन	१२०
१४. सुश्री राजकुमारी अमृत कौर	१२८
१५. सुश्री शांता बहन रानीवाला	१३३

राष्ट्रीय राजधानी वर्धा

वर्धा की ओर

सन् १९४१ के पूर्वार्द्ध की बात है, मैं कलकत्ते में रहा करता था। सहसा मेरे वर्धा जाने के प्रस्ताव में मित्र-मंडली ने जिज्ञासा उत्पन्न कर दी। उन्होंने इसके पहले कभी मेरे इस विचार का अनुमान तक न कर पाया था, और न मैंने ही कभी ऐसा प्रकट होने दिया था कि मैं अखिल भारतीय चरखा-संघ से एक नवीन और अधिक सूत कातनेवाला चरखा बनाने के संबंध में लिखा-पढ़ी कर रहा हूँ। एक दिन जब अखिल भारतीय चरखा-संघ के प्रधान मंत्री श्रीश्रीकृष्णदास जाजू का आमंत्रण-पत्र मिला, और साथ ही बंगाल प्रांतीय चरखा-संघ से अपने लिये मार्ग-व्यय ले लेने का विशेष पत्र भी प्राप्त हुआ, तो मेरी प्रसन्नता की सीमा न रही। मेरी तैयारी सीधे वर्धा के लिये हो गई। जिस दिन संध्या को बंबई-मेल द्वारा मैं वर्धा के लिये रवाना हो रहा था, उसी दिन कलकत्ते के सुप्रसिद्ध कार्यकर्ता श्रीसीतारामजी सेक्सरिया भी वहीं के लिये रवाना हो रहे थे। उन्हें देखने के बाद मेरे मन में एक प्रकार के आत्मगौरव का भान हुआ, और मन ने कहा—"मैं भी वर्धा जा रहा हूँ।" इस प्रकार मेरे मन में वर्धा की महत्ता का एक

अजस्र स्रोत प्रवाहित होने लगा। मैंने उस समय सेक्सरियाजी से अपने को एक चावल भी कम न समझा। हम दोनो एक ही मंज़िल के पथिक थे। हाँ, अंतर था, तो केवल इतना कि मैं थर्ड क्लास के डब्बे में सफ़र कर रहा था और वह ड्योढ़े में। किंतु इससे मैंने अपने मन में किसी प्रकार की तुच्छता नहीं महसूस की।

गाड़ी चल पड़ी। तब गाड़ी में आज-जैसे धक्के-मुक्के का कोई प्रश्न न था। मज़े से अपनी 'सीट' पर बैठा हुआ, गर्व से सिर ऊँचा किए, खिड़की के बाहर तेज़ी से गुज़रनेवाले जंगल और हरे-भरे मैदानों का सांध्य दृश्य देखकर आनंद ले रहा था। यदि बीच में कभी किसी ने पूछा भी, तो मैंने बड़े गर्व से अपनी यात्रा की गुरुता को व्यक्त किया। उस समय मैं भी अपने को पाँच सवारों में गिनने का हक़दार-सा महसूस कर रहा था। कुछ रात बीतने के बाद मैं आराम से सो रहा।

बिना किसी कष्ट के यात्रा समाप्त हुई, और ठीक उसी समय, जब कि हावड़े के स्टेशन पर उस गाड़ी में चढ़ा था। हँसते-हँसते उतर पड़ा। सामान कोई अधिक न था, इसलिये चट से मैंने एक ऐसे कुली की तलाश कर ली, जो मुझे शहर के उस हिस्से में पहुँचा देता, जहाँ श्रीजाजूजी का निवास-स्थान हो। किंतु कुली कुछ अनभिज्ञ-सा था। अतः ज्यों ही मैं बाहर पहुँचा कि ताँगेवालों ने मुझसे सेवाग्राम के लिये उसी प्रकार पूछना आरंभ कर दिया, जैसे इलाहाबाद अथवा उसके निकटवर्ती

अखिल भारतीय ग्राम-उद्योग-संघ की दूकान पर बापू
साथ मे जे० सी० कुमारप्पा आदि

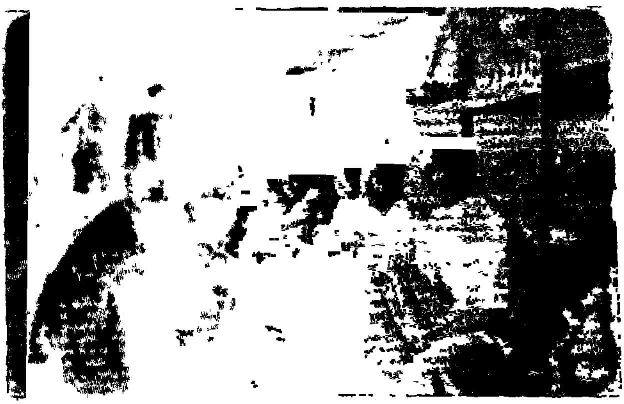

खादी-विद्यालय का सरंजाम-कार्यालय
[लेखक एक विद्यार्थी को गुनिया बनाना बता रहा है ।]

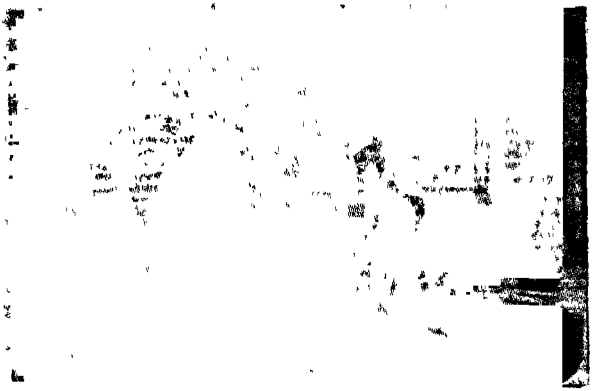

महिला-आश्रम का सिलाई-विभाग

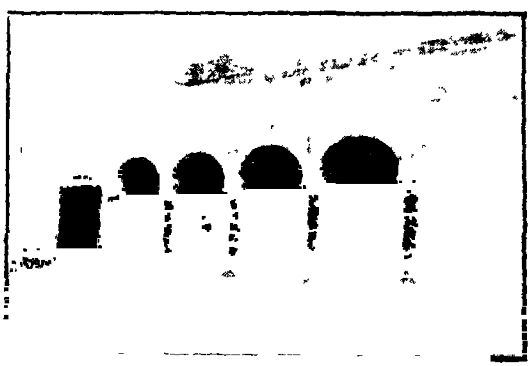

मगनवाड़ी

स्टेशनों पर पंडे लोग त्रिवेणी-स्नान के लिये घेरते हैं। उस समय तो मैं इतना न समझ सका कि सेवाग्राम के लिये ही इस प्रकार वे क्यों चिल्लाहट मचा रहे हैं। साफ़ था कि उस समय महामानव गांधी सेवाग्राम में रहते थे। आज मैं यह अच्छी तरह समझ रहा हूँ कि सेवाग्राम किसी प्रकार प्रयाग या काशी से कम महत्त्व का तीर्थ-स्थान नहीं रहा। काशी और प्रयाग में यात्री केवल मूर्तियों का दर्शन अथवा गंगा-स्नान तक का ही लाभ उठाता है, किंतु सेवाग्राम में तो वह मानवता के पुजारी, विश्व-बंधु, लँगोटीधारी उस महात्मा के दर्शन करता था, जो भावना से परे रहते हुए भी उसमें भावना पैदा कर देता था।

मुझे सेवाग्राम तो जाना नहीं था। मैं उस ताँगेवाले के निकट केवल यह पूछने गया था कि श्रीजाजूजी कहाँ रहते हैं। पूछने पर यह मालूम हुआ कि मैं स्व० श्रीजमनालाल बजाज का बँगला बजाजबाड़ी पूछता चला जाऊँ; वहीं उनका भी निवास-स्थान है। काफ़ी लंबा रास्ता तय करने के पश्चात् मैं बजाजबाड़ी पहुँचा, और श्रीजाजूजी से मिला।

लगभग ६० वर्ष की आयु, गंभीर तथा शांत, सौजन्य की मूर्ति, मिलते-ही-मिलते मैं उनके व्यक्तित्व से काफ़ी प्रभावित हुआ। बिना किसी प्रकार की गंभीर चर्चा किए उन्होंने निस्संकोच साधारण-सी बातें प्रारंभ कर दीं—गाड़ी में अधिक परेशानी हुई होगी, आप एक लंबे सफ़र से आ रहे हैं, आदि-

आदि। आत्मीय-जैसी बातें करते हुए उन्होंने मुझे अतिथि-गृह में सामान रखकर स्नान करने का आदेश दिया। साथ ही उन्होंने वहीं अखिल भारतीय चरखा-संघ के प्रधान कार्यालय में काम करनेवाले एक जिम्मेदार कार्यकर्ता से मेरे होटल में भोजन की व्यवस्था के लिये कहा, जैसा कि प्रायः सभी आगत मेहमानों के लिये किया जाता है।

वर्धा की प्रमुख संस्थाएँ

नालवाड़ी

दूसरे ही दिन मुझे श्रीजाजूजी के वर्धा शहर से एक मील दूर, दक्षिण-पश्चिम में, एक ऐसी बस्ती में प्रवेश करना पड़ा, जो दूर से बड़ी ही आकर्षक और शहरी तथा साधारण वातावरण से भिन्न-सी जान पड़ती थी। इस कालोनी को नालवाड़ी के नाम से पुकारते हैं। वहाँ श्रीजाजूजी ने एक प्रधान इंजीनियर कार्यकर्ता से मेरा परिचय कराया और बताया कि उन्हीं के परामर्श और सहयोग से मैं अपना कार्य सफल बना सकता हूँ।

वैसे तो नालवाड़ी में एक व्यक्ति अथवा समाज के साधारण उपयोग में आनेवाली जितनी भी आवश्यक वस्तुएँ हैं, उनका उत्पादन तथा स्वावलंबी जीवन को विकास की ओर अग्रसर करने का प्रयत्न किया जाता है; किंतु उनके उत्पादन-कार्यालयों में चरखा-सरंजाम-कार्यालय, खादी-उत्पादन-केंद्र कृषि-विभाग, गोशाला, चर्मालय, तेलधानी तथा रँगाई-विभाग का विशेष महत्त्व है। इनका परिचय देने के पहले यह बता देना आवश्यक है कि आज की नालवाड़ी पूज्य विनोबा भावे की अमर कीर्ति का मूर्त रूप है। सन् १६२० में स्व०

बजाज ने साबरमती जाकर गांधीजी से वर्धा में भी एक सत्याग्रह-आश्रम चलाने का आग्रह किया था। उसी समय बापूजी ने पूज्य विनोबाजी को इस कार्य के लिये भेजा, और उन्होंने सर्व-प्रथम वर्तमान नालवाड़ी के स्थान पर सत्याग्रह-आश्रम की स्थापना की। यही समय नालवाड़ी का जन्म माना जा सकता है।

चरखा - सरंजाम - कार्यालय—इसमें, जैसा कि नाम से ही प्रकट है, विशेषतया यरवडा-चक्र, किसान-चक्र, धुनकियाँ, तकुवे, करघे आदि को छोड़कर खादी-उत्पादन के समस्त औजार तैयार होते हैं। प्रतिदिन लगभग १५० यरवडा-चक्र की उत्पत्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। कार्यालय के पास लेथ मशीनें, स्प्रिंग बनाने की मशीनें, ढलाई आदि का कार्य गृह-उद्योग के ढंग पर ही संचालित होता है।

खादी-उत्पादन-विभाग—इसमें प्रायः बुनाई तथा कपड़े की रँगाई, धुलाई, छपाई, कुंदी आदि का सारा कार्य होता है। लगभग तीस-चालीस करघे चलाए जाते हैं। इसमें विद्यार्थियों को शिक्षा भी दी जाती है। इस उत्पादन-केंद्र का ही भांडार वर्धा शहर के अंतर्गत है, जहाँ लोग खादी प्राप्त कर सकते हैं। इस विभाग में स्त्रियों को भी समान रूप से काम में लगाया जाता है।

कृषि-विभाग—इसमें फ़िलहाल कृषि का कार्य इतना उन्नत तो नहीं है कि उसके द्वारा नालवाड़ी में रहनेवाले सभी व्यक्तियों

को साल-भर के लिये खाद्य पदार्थ उपलब्ध हो सकें, किंतु सभी के लिये साग-सब्जी तथा फल आदि तो साल-भर के लिये पैदा होता ही है। कुछ मक्का आदि भी पैदा हो जाता है। खेती साधारण हलों द्वारा ही होती है, किंतु ट्यूब-वेल का विशेष प्रबंध है, जिससे इस शुष्क प्रदेश में भी असमय हरियाली देखने को मिल जाती है।

गोशाला—इसका जो सबसे महत्त्व-पूर्ण कार्य अब तक सिद्ध हो सका है, वह यही कि जितनी भी अन्य राष्ट्रीय संस्थाएँ हैं, उन्हें तथा कुछ थोड़े-से नागरिकों को वह अपनी सामर्थ्य के अनुसार विशुद्ध दूध पहुँचा सकती है, पहुँचाती है। यहाँ गायों को वैज्ञानिक ढंग से छान-बीन करके चारा दिया जाता है। प्रायः बिनौला भिगोकर गायों को खिलाया जाता है। इससे दूध में गाढ़ापन तथा अधिक मक्खन उत्पन्न करने की शक्ति आ जाती है।

चर्मालय-विभाग—इसमें चमड़े की सफ़ाई से लेकर चमड़े की वस्तुएँ बनाने तक का कार्य होता है। दूर-दूर से ट्रेनिंग प्राप्त करने के लिये लड़के आते हैं। इस विभाग का भी एक स्टोर शहर में है, जहाँ जूते, चप्पल, सूटकेस, मनीबेग आदि सभी वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं।

तेलधानी तथा रँगाई-विभाग—इसका परिचय विशेष रूप से देने की आवश्यकता नहीं। इस कालोनी के अंतर्गत ही एक

सम्मिलित भोजनालय तथा एक बच्चों के पढ़ाने का छोटा स्कूल भी है। अन्य दैनिक कार्य-क्रम लगभग सेवाग्राम-आश्रम की भाँति ही चलते हैं।

अखिल भारतीय ग्रामोद्योग-संघ

वर्धा शहर के पश्चिम भाग में, मगनबाड़ी के नाम से प्रसिद्ध कालोनी में, उक्त संस्था का जन्म, कांग्रेस के ४८वें वार्षिक अधिवेशन (सन् १६३४) में, देशरत्न डॉ० राजेंद्रप्रसाद के सभापतित्व में, बंबई में पास हुए प्रस्ताव के आधार पर हुआ। प्रस्ताव में स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया गया कि—

"चूँकि स्वदेशी को बढ़ाने का दावा करनेवाले मंडल, कांग्रेसवालों की सहायता या विना सहायता के, देश में जगह-जगह खड़े हो गए हैं, और चूँकि स्वदेशी के वास्तविक स्वरूप के विषय में लोगों के दिलों में बहुत भ्रम पैदा हो गया, और चूँकि कांग्रेस का इसके आरंभ से ही यह उद्देश्य रहा है कि वह दिन-दिन जनता के साथ अपने आपको अधिकाधिक एकसम करती जाय, और ग्रामों का संगठन और पुनः रचना कांग्रेस के रचनात्मक कार्य-क्रम का एक अंग रहे हैं, और चूँकि ऐसी पुन. रचना में हाथ-कताई-जैसे मुख्य उद्योग के अलावा दूसरे मृत या मृतप्राय ग्राम - उद्योगों को पुनर्जीवित करने और उन्हें प्रोत्साहन देने का अंतर्भाव अवश्य ही है, और चूँकि यह काम हाथ-कताई के संगठन की तरह तभी संभव है, जब इसी बात में सारी शक्ति लगाई जाय, और खास तौर पर इसके लिये उद्योग किया जाय, सो भी कांग्रेस के राजनीतिक कामों से स्वतंत्र रहकर और उसके असर से अपने को बचाते हुए, इसलिये श्रीजे० सी० कुमारप्पा को इस

प्रस्ताव द्वारा अधिकार दिया जाता है कि वह गांधीजी की सलाह से और मार्ग-दर्शकता में अखिल भारत-ग्राम-उद्योग-संघ नाम की एक संस्था खड़ी करें, जो कि कांग्रेस के कार्यों का एक अंग रहेगी। इस संघ को पूर्वोक्त उद्योगों को पुनर्जीवित करने और उत्तेजन देने तथा और ग्रामवासियों की नैतिक और शारीरिक उन्नति करने एवं इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये अन्य आवश्यक कार्य करने का अधिकार रहेगा।"

इस प्रकार श्रीजे० सी० कुमारप्पा के ऊपर सारा भार डाल दिया गया, जो आज भी अपने लघु भ्राता श्रीभारतन कुमारप्पा के साथ इस कार्य में अनवरत परिश्रम कर रहे हैं। मृत ग्राम-उद्योगों को पुनर्जन्म देने तथा विभिन्न प्रकार के गृह-उद्योगों एवं कला-कौशल के प्रचार में लगी यह संस्था आज अपना पर्याप्त उच्च स्थान रखती है। यह संस्था हमें अपनी हस्त-कलाओं के ऊपर निर्भर रहकर ही जीवन यापन करना सिखाती है।

इस विशाल संगठन की शाखाएँ समस्त भारत के कोने-कोने में फैली हैं। कुमारप्पा-बंधुओं ने अपने प्रशंसनीय परिश्रम से अनेक उद्योगों का जीर्णोद्धार किया है, तथा सुधार और आवश्यक उन्नति की है। तेलधानी, जो कि एक अच्छे प्रतिशत के साथ तेल पेरने में सफल सिद्ध हो सकी है, उल्लेखनीय कार्य है। इसी प्रकार हाथ से कागज़ बनाने की कला, मधु-मक्खी-पालन, ताड़ के रस से गुड़, सींग का सामान बटन, स्लेट की पेंसिल, वार्निश और पेंट बनाना, बैलों से

चक्की पीसने का काम, विभिन्न प्रकार से धान से चावल अलग करने की चक्कियाँ तथा उनका उपयोग, लुहारगोरी, साबुन और बिस्कुट बनाना यहाँ के कुछ उल्लेखनीय उद्योग हैं।

विज्ञान-युग ने हमारे जीवन को जहाँ कुछ अधिक आसान बना दिया है, वहाँ हमें परमुखापेक्षी भी बना दिया है। आज का हमारा सामाजिक ढाँचा इस विज्ञान युग की एक ऐसी देन है, जो सर्वथा विकृत हो चुका है। आज मनुष्य का मूल्य रुपयों से आँका जाने लगा है। जिन गृह-उद्योगों में लगा हुआ व्यक्ति अपनी तथा सामाजिक आवश्यकताओं को अपना उत्तर-दायित्व समझकर पूरा करता था, वह अब मशीन-युग के चक्कर में केवल पैसा पैदा करने के लिये करता है। मशीन-युग की विशेषता है कम समय तथा कम मेहनत में अधिक-से-अधिक उत्पादन। हमारे जीवन को पंगु, अकर्मण्य बनाने की सारी ज़िम्मेदारी एकमात्र इसी मशीन-युग पर है। यद्यपि मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह कम मेहनत करके अधिक-से-अधिक आराम करना चाहता है, किंतु यही आराम उसे नैतिक पतन की ओर ले जाता है। पूज्य बापू मशीन-युग की इस अनैतिकता तथा विकृति से अत्यधिक भयभीत थे, इसीलिये उन्होंने सर्वथा स्वावलंबी जीवन पर ज़ोर दिया, और ग्रामोद्योग के लिये प्रोत्साहन।

कहना न होगा कि ग्रामोद्योग और खादी का कार्य हमारी इसी सफलता का परिचायक है। ग्रामोद्योग जीवन की प्रत्येक

आवश्यकताओं को पूरा करता है। हाथ का पीसा आटा और ओखल का कूटा हुआ चावल जहाँ आर्थिक दृष्टि से कोई विशेष बचत नहीं करता, वहाँ हमारे घर की स्त्रियों को एक परिश्रम का काम देकर उनके शारीरिक अवयवों को पुष्ट करता तथा अधिक पुष्टिकारक होने के कारण स्वास्थ्य-वर्धक भी होता है।

ग्रामोद्योग-संघ ने सर्वथा अपने उद्योगों को नैतिक महत्त्व दिया है, न कि आर्थिक। हम ऐसा मानते हैं कि मनुष्य का जीवन नैतिक उत्थान से अधिक सुखमय हो सकता है। जीवन सुखी बनाने का सबसे बड़ा मंत्र है—"अपनी बढ़ी हुई आवश्यकताओं को कम करो।"

इन सभी अवस्थाओं को अपने सामने रखकर ही गत १०-१२ वर्षों से ग्रामोद्योग-संघ अपना एक ग्राम-सेवक विद्यालय चला रहा है, जिसमें विद्यार्थियों को प्रवेश देकर उद्योग की समुचित शिक्षा दी जाती है। वैसे विभिन्न प्रांतों की उद्योग-संबंधी अपनी एक विशेषता होती है, जैसे बटन और सींग के काम के लिये कर्नाटक प्रांत अपना स्थान ऊँचा रखता है। यह वहाँ का बहुत पुराना उद्योग है। हाथी-दाँत, चंदन, सींग के बटन, कंघे आदि बनाना वहाँ घर-घर में उसी प्रकार चलता है, जैसे युक्त प्रांत के अंदर फ़िरोज़ाबाद में चूड़ियाँ। इसी प्रकार कश्मीर की अपनी विशेषता ऊन कातने और बुनने की है। आसाम और भागलपुर में रेशम के काम की प्रधानता है।

अस्तु, इन स्थानों पर इन उद्योगों के आदि रूप में कारीगर पाए जा सकते हैं, इसे ध्यान में रखते हुए ग्रामोद्योग-संघ ने अपने केंद्र खोलकर उन्हें प्रोत्साहित किया है।

यह स्मरणीय है कि उक्त 'कालोनी' का नाम स्व० मगनलाल गांधी के स्मारक-स्वरूप रक्खा गया है, और उन्हीं की स्मृति में एक *'मगन-संग्रहालय'* की भी स्थापना की गई है, जिसे हम अजायबघर कह सकते हैं। यहाँ हस्तकला के सुंदर-से-सुंदर नमूने संगृहीत हैं। यहां सभी क़िस्म के चरखे तथा महीन-से-महीन खादी और सूत का बड़ा ही अनुपम संग्रह है, जिसे देखकर सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि ढाके की मलमल कैसी होती होगी।

महिला-आश्रम

यों तो सेवाग्राम और वर्धा में जितनी भी संस्थाएँ हैं, उन सभी पर बापू का वरद हस्त रहा है, और वे सभी उन्ही की छत्रच्छाया में फलती-फूलती और विकसित होती रही हैं, किंतु वर्धा के महिला-आश्रम का स्थान भारत की समस्त प्रगतिशील महिला-संस्थाओं में अन्यतम है, जिसे बापू की विशेष कृपा प्राप्त रही है। भारतीय नारियों में राजनीतिक शिक्षा द्वारा जागृति उत्पन्न करना तथा उनके सम्यक् विकास के लिये अधिकाधिक अवसर प्रदान करना ही इस संस्था का मुख्य उद्देश्य है। भारतीय नारियों का सामाजिक जीवन यद्यपि संकुचित होता है, किंतु

वे परिवार एवं समाज के प्रति संपूर्ण उत्तरदायित्व को पालन करनेवाली होती हैं। गांधीजी सर्वदा ऐसा मानते रहे हैं कि भारतीय नारियाँ चाहे जितनी भी अपढ़ क्यों न हों, वे श्रद्धा की पात्री हैं। वह भली भाँति जानते थे कि मध्यकालीन युग का अभिशाप पर्दा, जो उनके ऊपर लादा गया है, उसने उनके जीवन को जटिल बना दिया है। भारतीय नारी संयम और सहिष्णुता की मूर्ति होती है। उसमें शिक्षा की कमी समाज की पंगुता का परिणाम है। हमारी कुछ पढ़ी-लिखी बहनों में आज पाश्चात्य प्रभाव से फैले शृंगार और फैशन का ग़ुलाम बनकर आरामतलबी का जीवन व्यतीत करना स्पष्टतः घातक सिद्ध हो रहा है। हमारे घर में दैनिक जीवन की आवश्यकताएँ आज इतनी बढ़ गई हैं कि उसमें एक प्रकार की विषमता का जन्म हो गया है। पर्दा-प्रथा को तोड़कर तथा उच्च शिक्षा प्राप्त करके भी भारतीय नारी पाश्चात्य नारी नहीं बन सकती, क्योंकि हमारा सामाजिक ढाँचा उसके अनुपयुक्त है, यह बताना महिला-आश्रम का अपना कार्य है। महिला-आश्रम स्त्रियों को स्वावलंबी तो बनाता ही है, साथ ही राष्ट्र और समाज के प्रति उनके कर्तव्यों का भी ज्ञान कराता है।

स्थापना—यह संस्था कई एकड़ की विस्तृत भूमि में अवस्थित है, जिसमें विद्यालय, छात्रावास, अध्यापक-निवास, कृषि-प्रयोगार्थ बग़ीचा आदि बने हुए हैं। यह संस्था एक ही

क्षेत्र में, वर्धा से सेवाग्राम को जानेवाली सड़क के दाहने किनारे पर, शहर से ठीक पूर्व की ओर, स्थित है।

सन् १९२४ में इस संस्था की स्थापना 'विले पार्ले' (बंबई) में स्व० श्रीबजाज, सूरजमल रुइया, श्रीकृष्णदास जाजू और सुश्री शांता बहन रानीवाला के सम्मिलित सहयोग से 'हिंदू-महिला-मंडल' के रूप में हुई थी। पहले तो इस संस्था की स्थापना केवल मारवाड़ी विधवा बहनों के नैतिक और आर्थिक उत्थान को दृष्टि में रखकर हुई थी, किंतु जैसे-जैसे समय बदलता गया, और स्व० बजाजजी ज्यों-ज्यों देश की राजनीति में आगे बढ़ते गए, इस संस्था का भी उसी के साथ रूप बदलता गया, और आज यह भारत की एक प्रमुख राष्ट्रीय शिक्षण-संस्था गिनी जाने लगी है।

सन् १९३१ में इस संस्था को 'महिला-आश्रम' नाम देकर और इसे राष्ट्रीय शिक्षा का आधारभूत मानकर विद्यालय की विशद योजना बनाई गई, किंतु १९३२ में सरकार ने इसे ग़ैर क़ानूनी घोषित कर दिया। इसके पश्चात् १६-१-१९३३ को वर्धा में सत्याग्रह-आश्रम के पड़ोसवाले एक घर में इसकी स्थापना आचार्य विनोबा भावे का आशीर्वाद पाकर की गई।

शिक्षा—महिला-आश्रम में व्यावहारिक राजनीति तथा रचनात्मक कार्य की शिक्षा ही प्रधान है। आश्रम की दो सर्वोच्च परीक्षाएँ विनीता और शिक्षा-कुशला हैं। विनीता तक योग्यता प्राप्त लड़की को हिंदी-साहित्य, इतिहास, भूगोल, साधारण

राजनीति, गणित आदि की समुचित एवं लगभग बी० ए०-स्टैंडर्ड की शिक्षा दे दी जाती है। साथ में संगीत, वाद्य तथा सिलाई, कढ़ाई, बुनाई, कताई आदि की भी शिक्षा व्यावहारिक रूप में दी जाती है। शिक्षा-कुशला-उपाधि-प्राप्त लड़कियाँ शिक्षण - कार्य करने के योग्य मानी जाती हैं। अस्तु, उन्हें उसकी व्यावहारिक शिक्षा देने के लिये आश्रम के अंतर्गत एक बाल-मंदिर भी है, जिसमें छोटे-छोटे बच्चे प्रवेश पाकर पढ़ते हैं। बाल-मंदिर का निरीक्षण श्रीमीरा दामोदरदास मूँदड़ा करती हैं।

दैनिक जीवन—महिला-आश्रम के अंतर्गत समस्त भारत सिमटकर एकत्र हो गया है। देश के कोने-कोने से लड़कियाँ यहाँ आती और सेवा का व्रत लेकर अपने यहाँ लौटती हैं। जाते समय यह मालूम होता है कि उनके जीवन में पर्याप्त परिवर्तन हो गया है। खद्दर की साफ़-सुथरी साड़ियां पहन-कर अपना सामान उठाने और ले चलने में उन्हें हिचक नहीं होती। यदि वे अकेले भी कहीं आती-जाती हैं, तो कभी अपने को अबला, असहाय अथवा कमजोर नहीं समझतीं। इस प्रकार भावना भरने का श्रेय जितना यहां के शिक्षण-क्रम को है, उससे अधिक यहाँ के दैनिक जीवन पर निर्भर है।

प्रातः चार बजे उठकर गांधीवादी प्रार्थना करना, उसके पश्चात् अपनी-अपनी बारी के अनुसार चक्की से आटा पीसने,

पानी भरने तथा रसोई का प्रबंध करने में जुट जाना और लगभग सात बजे झंडारोहण में सभी का भाग लेना आवश्यक होता है। इसके पश्चात् उन्हें जल-पान के लिये दलिया और दूध दिया जाता है। आश्रम की सफ़ाई का सारा कार्य, जिसमें पाख़ानों की सफ़ाई भी सम्मिलित है, वे करती हैं। भोजन इत्यादि कर लेने के पश्चात् ठीक १० बजे से ४ बजे तक विद्यालय का कार्य-क्रम प्रारंभ होता है। विद्यालय के पास अपना वाचनालय तथा पुस्तकालय है, जिसमें संध्या समय स्वाध्याय का अवसर प्रत्येक छात्रा को प्राप्त होता है। संध्या समय लड़कियों की सामूहिक कसरत का कार्य-क्रम चलता है, जिसमें लड़कियों के शारीरिक अवयवों को बल, विकास एवं पुष्टता मिलती है। लगभग साढ़े पाँच बजे से, भोजन कर लेने के पश्चात्, सात बजे तक मुक्त वातावरण में वायु-सेवन के लिये छोटी-छोटी टोलियाँ सेवाग्रामवाली सड़क पर निकलती और लौटकर संध्याकालीन प्रार्थना में सम्मिलित हो जाती हैं। फिर १० बजे तक का समय स्वाध्याय के लिये मिलता है, जिसमें प्रायः लड़कियाँ अपनी ज्ञान-वृद्धि-हेतु बड़ी साधना और लगन से जुटी देखी जाती हैं।

पाख़ाने की सफ़ाई—हम यहाँ पाख़ाने की सफ़ाई में निहित मूल सिद्धांत के संबंध में कुछ थोड़ी-सी चर्चा इसलिये कर देना आवश्यक समझते हैं, क्योंकि यह कार्य समाज

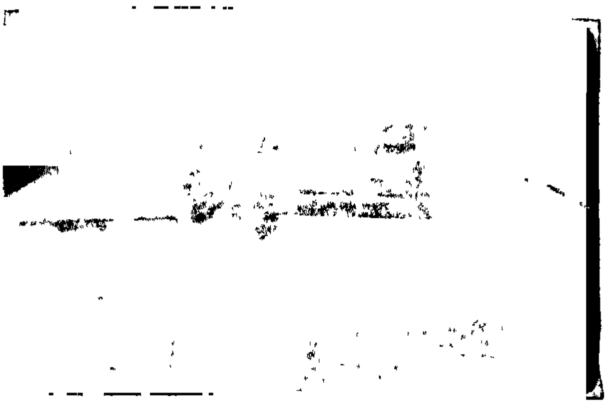

मगन-संग्रहालय

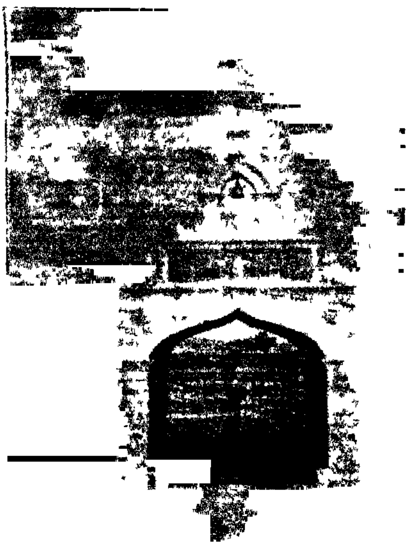

अखिल भारत-ग्राम उद्योग-संघ

[उद्योग-भवन]

और व्यक्ति की दृष्टि में सर्वथा नवीन है। इस कार्य के लिये एक ऐसा वर्ग जिम्मेदार माना जाता है, जो यों तो अछूत कहा जाता है, किंतु गांधीजी उसे हरिजन कहते थे। गांधीजी की दृष्टि में दूसरों के मल-मूत्र की सफ़ाई करके उसे उच्च बनानेवाला, सेवा का दृढ़व्रती कभी घृणा करने अथवा अछूत कहे जाने योग्य नहीं; अपितु श्रद्धा और गले लगाने का पात्र है। वास्तव में यदि पूछा जाय, तो वही समाज की सभ्यता का जन्मदाता है। पाखानों की सफ़ाई द्वारा पूज्य बापू यह सिद्ध कर देना चाहते थे कि सफ़ाई करना-मात्र किसी के लिये घृणा का कारण नहीं बन सकता। मनुष्य की नैतिकता कार्य की विषमताओं के बीच भी क़ायम रह सकती है। कोई भी कार्य व्यक्तिगत संबंध न रखकर सामाजिक महत्त्व रखता है। सामाजिक जीवन के प्रति मनुष्य उत्तरदायी होता है, इसलिये वह अपनी सामर्थ्य के अनुसार वे सभी कार्य करना अपना धर्म समझता है, जिससे मनुष्य का जीवन वस्तुतः सुखी एवं स्व-चालित हो। सामाजिक जीवन में 'व्यक्ति से घृणा'-नामक कोई वस्तु ही नहीं है, क्योंकि वह उसी पर निर्मित है।

आश्रम के अंदर सभी लड़कियाँ पाखाना साफ़ करने के पश्चात् न तो कभी अपने मन में किसी प्रकार की निम्नता महसूस करती हैं, और न यही समझती हैं कि यह कोई विचित्र-सा कार्य है, जो उन्हें नहीं करना चाहिए। वे सफ़ाई के कार्य

में सहर्ष जुट जाती हैं, और खेत में अपने हाथ से गड्ढा खोद-कर उस पाखाने को दबा देती हैं, जिससे खाद तैयार होती है। इस प्रकार की खाद प्रत्येक रासायनिक ग्वादों से अधिक उपयोगी होती है।

महिला-आश्रम की गृह-व्यवस्थापिका सुश्री बासंती राय छात्राओं के प्रत्येक कार्य में समान रूप से भाग लेती हैं। सुश्री शांता बहन रानीवाला, जिन्हें यहाँ की छात्राएँ मा के तुल्य मानती हैं, उनके व्यवहार इतने मृदुल हैं कि विदा लेनेवाली छात्रा अवश्य ही दो बूँद आँसू ढार जाती हैं। कहना न होगा कि आश्रम को ख्याति की इस कोटि तक पहुँचाने का अधिकांश श्रेय मौन-साधिका शांता बहन रानीवाला को ही है।

हिंदुस्थानी-प्रचार-संघ

महिला-आश्रम के ठीक दूसरी ओर, अर्थात् सड़क का बाईं तरफ़, हिंदुस्थानी-प्रचार-संघ की इमारतें दिखाई पड़ती हैं, जो श्रद्धेय काका कालेलकर की देख-रेख में काम करता है। हिंदुस्थानी-प्रचार-संघ का जन्म हिंदी और हिंदुस्थानी के वाद-विवाद के फल-स्वरूप सन १९४१ में हुआ था। इसके पहले वहीं हिंदी-साहित्य-सम्मेलन द्वारा संचालित राष्ट्र-भाषा-प्रचार-समिति का कार्यालय था। और, वह आज भी दूसरी इमारत में अपना कार्यालय स्थापित कर प्रचार-कार्य कर रहा है।

सन १९४१ के हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के अबोहर (पंजाब) के अधिवेशन में काका कालेलकर ने अपना संबंध विच्छेद

कर उक्त संस्था को जन्म दिया। इस संस्था द्वारा विशुद्ध हिंदी का प्रचार न करके उसके स्थान पर हिंदुस्थानी कही जानेवाली एक खिचड़ी उर्दू-हिंदी-मिश्रित भाषा के प्रचार का निश्चय किया गया। इस संस्था को बापूजी का आशीर्वाद प्राप्त था, और यह निरंतर गति से अपना कार्य कर रही है।

राष्ट्र भाषा-प्रचार-समिति

सन १९३७ में कांग्रेस का महाधिवेशन नागपुर में हुआ। इसी में अहिंदी प्रांतों के अंदर राष्ट्र-भाषा हिंदी के प्रचार का प्रस्ताव स्वीकृत किया गया, जिसकी व्यवस्था एवं संचालन का भार हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के ऊपर छोड़ दिया गया। महात्मा गांधी उस समय सम्मेलन के सदस्य थे, और कोई भी ऐसा झगड़ा उस समय लिपि अथवा भाषा-संबंधी न था। वस्तुत: गांधीजी प्रथम से ही ऐसी भाषा को राष्ट्र-भाषा बनाने के पक्ष में रहे, जो सर्व-साधारण की भाषा रही है, और जिसे जनता आसानी से बोल और समझ सकती हो, चाहे उसमें स्टेशन, पलटन और फ़ोटो-जैसे विदेशी शब्द ही क्यों न प्रयुक्त हों। काम चलाने एवं जागृति पैदा करने की दृष्टि से यह विचार अवश्य ही सराहनीय है, किंतु राष्ट्र-गौरव की दृष्टि से यह स्तुत्य नहीं। खिचड़ी राष्ट्र-भाषा की नींव पर निर्मित साहित्य हमारी सभ्यता एवं संस्कृति का प्रतिनिधित्व करनेवाला कभी नहीं हो सकता।

साहित्य-सम्मेलन ने राष्ट्र-भाषा-प्रचार-समिति का सारा भार श्रीकाका कालेलकर को अध्यक्ष बनाकर उनको सौंप दिया। काकाजी श्रीश्रीमन्नारायण अग्रवाल की सहायता से, सन् १९४१ के पहले तक, अबाध गति से कार्य करते रहे। समिति के कार्य को निम्नांकित आठ विभागों में बाँट दिया गया, जिसके लिये उस विभाग का अध्यक्ष ज़िम्मेदार होता है—

१ प्रचार, २. परीक्षा, ३ प्रकाशन, ४ अध्यापन-मंदिर, ५ शीघ्र-लिपि-मुद्रालेखन, ६. पुस्तक-बिक्री, ७ पुस्तकालय और ८. अर्थ-विभाग।

प्रचार - कार्य के लिये कुशल एवं हिंदी - सेवी प्रचारकों को महाराष्ट्र, गुजरात, मदरास, उत्कल, कर्नाटक, उड़ीसा, बंगाल, आसाम, पंजाब आदि प्रांतों में नियुक्त किया गया है, जहाँ वे समिति की परीक्षाओं की व्यवस्था तथा अध्यापन-मंदिर संस्थापित करने का विशेष कार्य करते हैं। समिति का प्रकाशन-विभाग ऐसी पुस्तकें प्रकाशित करने का कार्य करता है, जो परीक्षोपयोगी तथा स्वाध्याय के लिये उपयुक्त हों। समिति की ओर से प्रमाणित परीक्षाएँ १. प्रवेश, २ परिचय, एवं ३ कोविद हैं। कोविद-उत्तीर्ण परीक्षार्थियों को सम्मेलन की मध्यमा परीक्षा में प्रवेश होने का अधिकार होता है।

समिति हिंदी-प्रचार का कार्य इस समय भदंत आनंद

कौशल्यायन की देख-रेख में बड़ी तत्परता से कर रही है। अब तो समय बदल चुका है। भारतवर्ष की आज़ादी से इस कार्य को अधिक बल मिल गया है। प्रत्येक अहिंदी प्रांतों ने अपने यहाँ प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा-क्रम में अनिवार्यतः हिंदी का पाठ्य-क्रम स्वीकृत किया है। फिर भी जो ठोस कार्य यह समिति अहिंदी प्रांतों में कर रही है, वह अनुपम और अत्यंत उपयोगी है। हिंदुस्थानी-प्रचार से अंत में हिंदी ही का प्रचार और इससे देश में एक भाषा का साम्राज्य होगा।

गोसेवा-संघ

हिंदुस्थानी-प्रचार-संघ तथा नालबाड़ी के बीच एक विस्तृत भूमि पर, जहाँ स्वर्गीय बजाज की समाधि बनी है, उनकी आख़िरी देन या उनकी अंतिम साधना का प्रतीक 'गोपबाड़ी' की चहारदीवारी दूर से ही देख पड़ेगी। ११ फ़रवरी, सन् ४२ को स्व० बजाज की मृत्यु हुई थी। इसके कुछ दिनों पहले ही उन्होंने गोसेवा-संघ की स्थापना की थी, और मरने के कुछ घंटों पहले तक वह उसी के संबंध में बैठकर चर्चा कर रहे थे। आज, उनके अवसान के पश्चात्, उनकी धर्मपत्नी श्रीमती जानकीदेवी उनके छोड़े हुए अधूरे कार्य को पूरा कर रही हैं। उनका हर कार्य गोसेवा-संघ के ही निमित्त होता है। वह रहती भी गोपबाड़ी में ही हैं।

गोसेवा-संघ के निरीक्षण में ही इस समय योग्य 'गोसेवक' तैयार करने के लिये सेवाग्राम में 'गोप-विद्यालय' चल रहा है, जिसके आचार्य श्रीय० म० पार्नेकर हैं। इस विद्यालय में कृषि के सामान्य ज्ञान के साथ पशु-पालन, नस्ल-सुधार, चारा-दाना, पशु-चिकित्सा, दूध के उपयोग तथा आर्थिक दृष्टि से पशु की उपयोगिता का समुचित ज्ञान कराया जाता है।

हमारा ऐसा मत है कि जब तक ऐसे विद्यालय प्रांतीय सरकारों की ओर से प्रांतों के कोने-कोने में न खोले जायँगे, तब तक अपेक्षित उन्नति की संभावना नहीं। यह कार्य कितना आवश्यक है, इसकी गुरुता पर हमें विचार करना चाहिए।

मारवाड़ी-शिक्षा-मंडल

अब हम वर्धा की उस संस्था का परिचय देना चाहते हैं, जिसके द्वारा ही वर्धा तथा वर्धा के रत्न स्व० बजाज का सार्वजनिक जीवन प्रारंभ हुआ। इस संस्था का जन्म १ फरवरी, सन १६१० को स्व० बजाज तथा श्रीजाजूजी के प्रयत्न से, 'मारवाड़ी-विद्यार्थी-गृह' के रूप में हुआ था। समाज में शिक्षा-प्रसार तथा नैतिक उत्थान के उद्देश्य को सामने रखकर ही इस संस्था की स्थापना की गई थी। यद्यपि सर्व-प्रथम केवल मारवाड़ी-समाज के उत्थान की दृष्टि से ही इस संस्था की स्थापना हुई थी, किंतु यह आज वैसी नहीं है।

मारवाड़ी-समाज के अंदर जितनी संकुचित भावना है,

वह आज भी गई नहीं है और वह युग तो भला गुलामी का युग था। सन् १९२० के नागपुरवाले अधिवेशन में महात्मा गांधी के असहयोग-आंदोलन का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। जनवरी, सन १९२१ में महात्मा गांधी विद्यालय में पधारे, और पहली बार उन्होंने विद्यार्थियों को असहयोग का आदेश दिया, किंतु इस प्रकार असहयोग-आंदोलन से प्रभावित होकर संचालकों ने विद्यालय में कोई राजकीय उथल-पुथल नहीं की। दो वर्ष बाद श्रीजमनालाल बजाज से 'अस्पृश्यता-निवारण' प्रश्न पर और श्रीजाजूजी से 'कोलवार माहेश्वर'-प्रकरण के कारण मारवाड़ी-समाज खिन्न हो गया। अस्तु, समाज के साथ विचार न मिलने के कारण इन लोगों ने अपने-अपने पद से इस्तीफा दे दिया। किंतु सन १९२५ में पुनः विद्यालय और मारवाड़ी-विद्यार्थी-गृह का भार श्रीबजाज को सौंप दिया गया।

सन १९३७ के पहले ही एक प्रस्ताव में यह स्वीकृत किया गया कि विद्यालय तथा विद्यार्थी-गृह दोनो ही हरिजनों के लिये खोल दिए जायँ, किंतु इस समय जो एक महत्त्व-पूर्ण प्रस्ताव स्वीकृत हुआ, वह यह कि—'अब से मारवाड़ी-समाज के बजाय सर्व-साधारण में शिक्षा का प्रसार करना एवं मंडल की सदस्यता सभी व्यक्तियों के लिये खोल देना मंडल अपना कर्तव्य समझे। सुबीते के लिये मंडल के ट्रस्टी श्रीजमनालाल बजाज एवं सेठ मथुरादासजी मोहता नियुक्त किए जायँ।'

यद्यपि मारवाड़ी-विद्यालय का ज़िक्र पहले आ चुका है, जो विद्यार्थी-गृह के पश्चात् ही खोला गया था, किंतु जानकारी की दृष्टि से उतना ही पर्याप्त नहीं। मारवाड़ी-विद्यालय का दृष्टिकोण वास्तव में पहले जितना संकुचित था, आगे चलकर वह उतना ही व्यापक हो गया। सांप्रदायिक हित की अवहेलना कर इस संस्था को सार्वजनिक बनाने का श्रेय श्रीबजाज एवं श्रीजाजूजी को है। देश के इन कर्मठ व्यक्तियों ने विद्यालय को केवल पाठ्य-प्रणाली के पोषण की दृष्टि से नहीं चलाया, अपितु उसमें नैतिक और शारीरिक उन्नति का भी ध्यान रक्खा। समयानुसार विद्यालय का नाम भी बदलकर 'नवभारत-विद्यालय' रख दिया गया।

स्व० बजाज के जीवन का दृष्टिकोण ज्यों-ज्यों बदलता गया, त्यों-त्यों विद्यालय ने भी करवटें बदलीं। आज नवभारत-विद्यालय और गोविंदराम सेक्सेरिया-कॉलेज एक राष्ट्रीय विद्यालय के रूप में ही चल रहे हैं। राष्ट्रीय शिक्षा एवं राष्ट्रीय वातावरण इनकी अपनी विशेषता है। कला-कौशल और उद्योग-धंधों की शिक्षा अनिवार्यतः दी जाती है।

अखिल भारत-चरखा-संघ

भारतीय राजनीति में चरखा अथवा चरखा-संघ का बड़ा ही महत्त्व-पूर्ण स्थान रहा है। महात्मा गांधी ने जब से राजनीति में पैर रक्खा, इस उद्योग को साहस-पूर्ण प्रोत्साहन मिला। उन्होंने राजनीति में प्रवेश करते ही यह देखा कि भारतीय जनता के

शोषण का सबसे बड़ा साधन कपड़ा है, जो विदेशों से सीधे आकर यहाँ बाज़ारों में बिकता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारतवर्ष का यह प्राचीन उद्योग प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को सुखमय बनाने में अपना प्रमुख स्थान रखता था। जीवन की दो मूलभूत आवश्यकताओं खाने और कपड़े में से एक यह है, जिस पर विदेशी हुकूमत ने पूर्णरूपेण एकाधिकार कर लिया था। भारत के कच्चे माल और खाद्य पर जीनेवाले विदेशी मिल का सस्ता कपड़ा देकर भी किस प्रकार शोषण करते रहे हैं, इसे समझने में गांधीजी को तनिक भी देर न लगी। अस्तु, उन्होंने चरखे द्वारा सूत की कताई और करघे पर कपड़े की बुनाई पर आर्थिक और राजनीतिक दोनों दृष्टिकोणों से विचार किया, और गंभीरता-पूर्वक वह इस निश्चय पर पहुँचे कि देश में चरखे का पुनः प्रचार होना चाहिए, और लोगों के अंदर वस्त्र-स्वावलंबन की भावना भरनी चाहिए।

सन १९२० में पहलेपहल राष्ट्रीय महासभा के विशेष अधिवेशन में हाथ - कताई और बुनाई को प्रमुख स्थान दिया गया। किंतु उस समय प्रत्येक स्त्री-पुरुष अथवा बालक ने त्याग, अनुशासन तथा राजनीतिक प्रतीक के रूप मे चरखे और खादी को अपनाया। फिर कांग्रेस की बेजवाड़ावाली महासमिति की बैठक में २० लाख चरखे चलवाने का निश्चय किया गया, और सन् १९२२ में समिति ने सारे देश में खादी का काम करने के लिये एक अखिल भारतीय खादी-विभाग

खोल दिया। किंतु अपेक्षित सफलता न मिलने के कारण यह महसूस किया गया कि चरखा-प्रचार-संबंधी एक ऐसा संगठन हो, जो स्वतंत्र रूप से उसी में अपनी सारी शक्ति लगा सके। अस्तु, सन् १६२५ में पटना में चरखा-संघ की स्थापना की गई, और उसी समय एक प्रस्ताव द्वारा सारी पूँजी चरखा-संघ को हस्तांतरित कर दी गई। इस प्रकार अखिल भारतीय चरखा-संघ का सन् १६३४ का जो प्रगति-पत्र हमारे सामने आया, इससे यह जाना गया कि इस साल लगभग १ करोड़ गज़ खादी उत्पन्न की गई है, जिसकी क़ीमत ३४ लाख रुपए होती है। इस प्रगति से विदेशी बाज़ार को आंशिक धक्का तो पहुँचा ही, किंतु लोगों की श्रद्धा खादी की ओर बढ़ी, और वे उसकी उपयोगिता समझने लगे।

आज अखिल भारत-चरखा-संघ का नाम छिपा नहीं। हम उसके प्रधान मंत्री स्वनामधन्य श्रीश्रीकृष्णदास जाजू का ज़िक्र पहले ही कर चुके हैं। सन ४०-४१ के पहले चरखा-संघ का प्रधान कार्यालय अहमदाबाद में ही था, और उस समय इसके प्रधान मंत्री-पद पर श्रीशंकरलाल बैंकर थे; किंतु असाध्य बीमारी के कारण उन्होंने अपने को सेवा के अनुपयुक्त पाया, और अनिश्चित अवधि के लिये छुट्टी ले ली। इसी समय श्रीजाजूजी को स्थानापन्न प्रधान मंत्री का अवसर मिला, और अब तो वह निर्वाचित प्रधान मंत्री हैं। गांधीजी सन् १६३४ में ही वर्धा आ चुके थे, और श्रीजाजू प्रथम से ही महाराष्ट्र-

चरखा-संघ के प्रधान मंत्री के रूप में बजाजवाड़ी में रह रहे थे। अस्तु, उन्होंने अहमदाबाद से कार्यालय वर्धा को स्थानांतरित करा लिया। सन् १९४२ तक यह कार्यालय वहीं बना रहा, और आंदोलन के प्रभाव से कुछ अस्त-व्यस्त भी हो गया; किंतु अब वह उठकर सेवाग्राम ही चला गया है। वहीं इसके अंतर्गत एक खादी-विद्यालय भी चल रहा है, जिसके संबंध में प्रसंग-वश आगे कुछ लिखा गया है

सेवाग्राम की संस्थाएँ

पूज्य गांधीजी को सन १९३४ में स्वर्गीय बजाज के आग्रह पर साबरमती-आश्रम छोड़कर वर्धा आना पड़ा। गांधीजी वर्धा आकर सर्व-प्रथम मगनवाड़ी में ही ठहरे, और वहीं जन-सेवा का कार्य करते रहे। मगनवाड़ी के पास ही सिंधी-नामक मुहल्ले में, जो गाँव-जैसा ही था – मीरा बहन, बापू के आदेशानुसार, कुछ सफ़ाई आदि का सुधार कार्य करने लगीं। वहाँ के लोग प्रायः अपने दरवाजे के सामने ही सड़क के किनारे, पाखाना कर दिया करते और काफी गंदे रहते थे। मीरा बहन का कार्य था कुछ स्वयंसेवकों की सहायता से सड़कों को साफ़-सुथरा रखना। किंतु वहां के लोगों में शहरी बूबास भी थी, इसलिये वे मज़ाक़ उड़ाते, और बिलकुल ध्यान न देते। यहां तक कि उनके लड़के कभी-कभी बेचारे स्वयंसेवकों और मीरा बहन पर पत्थर और ईंट के टुकड़े उछालते। यह देखकर स्वर्गीय बजाज ने उन्हें राय दी कि वह (मीरा बहन) उनके गाँव 'सेगाँव' जाकर क्यों न यह ग्राम-सेवा का कार्य करें। जहाँ अधिकांश हरिजनों की बस्ती है। गांधीजी ने आशीर्वाद दिया, और वह सेवाग्राम (सेगाँव) में निवास करने के लिये चली गईं। कुछ दिनों बाद, अर्थात् सन् १९३६

में, स्वयं बापू भी सेगांव जाकर रहने लगे। इसी सेगाँव का नाम बहुत दिन बाद 'सेवाग्राम' पड़ा।

सेवाग्राम-आश्रम

सेवाग्राम-आश्रम स्वयं एक विशाल संस्था के रूप में है, जिसके प्रधान व्यवस्थापक के नियंत्रण में ही वहाँ के सारे कार्य संपादित होते हैं। वहाँ की कुछ संस्थाएँ अवश्य ही अपना अलग अस्तित्व रखती हैं, जैसे हिंदुस्थानी-तालीमी संघ, खादी-विद्यालय आदि।

आश्रम के अंतर्गत खादी-उत्पादन, कृषि-कार्य, गोशाला, चरखा-प्रयोगशाला, कुम्हारी-विभाग, गृह-निर्माण-विभाग आदि अपने-अपने विभागीय व्यवस्थापकों की संरक्षता में सुचारु रूप से चलते हैं। उन दिनों, सन् १६४१-४२ में, श्रीचमनलाल भाई समस्त आश्रम के व्यवस्थापक थे, किंतु इस समय श्रीमन्नालाल भाई इस जगह पर हैं। आश्रम में रहनेवाले लगभग सभी भाइयों के भोजन की व्यवस्था एक ही जगह है।

चूँकि आश्रम की दिनचर्या भारत के महान् राष्ट्र-निर्माता की ही दिनचर्या से संबंध रखती है, इसलिये उसका उल्लेख करना अत्यंत आवश्यक है। आवश्यक होने के साथ-साथ अनुकरणीय भी है। महात्मा गांधी ने इस संबंध में एक बार अपने प्रार्थना-सभा के भाषण में कहा था—

"हमारा प्रत्येक कार्य जन-सेवा की दृष्टि से और प्रयोगात्मक होना चाहिए। हमें अपनी दिनचर्या में इस प्रकार परिवर्तन लाना चाहिए कि वह साधारण जनता के लिये उपयोगी सिद्ध हो। उसी का आदर्श जनता के सामने रक्खें, और उसी का प्रचार करें। हमारा स्नानागार, हमारा भोजन गृह, हमारे रहने की जगह सभी एक प्रकार की प्रयोगशाला होनी चाहिए।"

आश्रम में प्रातः ठीक चार बजे उठने की घंटी बजती, जिसके साथ ही केवल हाथ-मुँह धोकर या आंख मींचते ही आश्रम के सभी सदस्य प्रार्थना-प्रांगण में पहुँच जाते। गांधीजी के आने पर प्रातःकालीन प्रार्थना प्रारंभ होती, और आध घंटे पश्चात् 'रामधुन' के साथ समाप्त हो जाती। इसके पश्चात् बापू अपनी कुटी में, जो पास ही 'बापू-निवास' के नाम से प्रसिद्ध है, चले जाते। रसोई-गृह और बापू-निवास के बीच में बा-निवास आज भी उसी प्रकार है, किंतु आज न बा हैं न बापू!

प्रार्थना समाप्त होने पर जिन लोगों पर नाश्ता तैयार करने की जिम्मेदारी होती, वे शौचादि से निवृत्त होने के पश्चात् नाश्ता तैयार करने चले जाते। इसी प्रकार आश्रम-सफ़ाई तथा पानी भरने के कार्य में भी लोग जुट जाते। इसी समय कुछ लोगों पर गेहूँ पीसने का भार होता, और वे अलग बने चक्की-गृहों में जाकर अपने काम में जुट जाते। सात बजे के लगभग नाश्ता मिलता, और अपनी रुचि के अनुसार कुछ लोग बापूजी के साथ टहलने निकल पड़ते। लौटने के

पश्चात् बापूजी कुछ देर बैठकर काम करते, और दस बजते-बजते मालिश कराने के लिये निश्चित स्थान पर चले जाते। इसके बाद अपने स्नान-गृह में स्नान करते। ११ बजे भोजन की घंटी बजती, और महामानव बापू के साथ सभी समानतः भोजन करने बैठते।

हाँ, उधर ८ से १० के बीच में पाखाना तथा सड़कों की सफ़ाई का परमावश्यक कार्य भी समाप्त किया जाता। यह आश्रमों के अंतर्गत बड़ी अहमियत का कार्य समझा जाता है, और कोई भी सदस्य वहाँ रहकर इससे छुटकारा नहीं पा सकता।

भोजन के पश्चात् बापूजी अपनी कुटिया में थोड़ी देर के लिये विश्राम करते, और फिर देश के कार्य में जुट जाते। साढ़े चार बजे के लगभग उनके चरखा कातने का समय आ जाता। उसके बाद वह शौचादि से निवृत्त होकर संध्याकालीन भोजन में, जो ५ बजे हुआ करता है, सम्मिलित होते। भोजनोपरांत प्रायः आश्रम के सभी सदस्य टहलने के लिये बाहर निकलते—कुछ बापूजी के साथ और कुछ स्वतंत्र। इसी समय बापूजी के विनोदी स्वभाव का पूरा परिचय मिलता। लोग इस समय खुलकर बापूजी के साथ हँसते और बातें करते। बापूजी का यह अपना परिवार कितना प्रसन्न और आह्लादित दिखाई देता, इसे वही जान सकता है, जिसने एक दिन भी वह दृश्य अपनी आँखों से देखा हो।

इसके पश्चात् लगभग आठ बजे संध्याकालीन प्रार्थना के लिये घंटी बजती, सभी एकत्र होते और प्रार्थना प्रारंभ होती। ईशोपनिषद् के मंत्रों का पाठ, गीता-पाठ, क़ुरान की आयतें, रामायण एवं रामधुन के साथ-साथ प्रार्थना समाप्त होती, और इसी समय दिन का काता गया सूत लिखाया जाता। बापूजी फिर अपने आवश्यक कार्य में सोने के पहले तक जुटे रहते, और १०॥ की घंटी बजने तक लोग अपने मनोऽनुकूल स्वाध्याय किया करते या चरखा काता करते।

आश्रम के निर्माण में वस्तुतः इस बात का ध्यान रक्खा गया है कि 'ग्रामीण स्वतंत्रता' के सिद्धांतानुकूल जिस प्रकार एक गाँव को अपनी अधिक-से-अधिक आवश्यकता की वस्तुओं का उत्पादन अपने ही यहाँ कर लेना चाहिए, उसी प्रकार आश्रम के भीतर भी ऐसी व्यवस्था की गई है, जिससे मोटी-मोटी आवश्यकताओं के लिये बाहर दौड़ना न पड़े। कृषि-विभाग खाद्य, साग और सब्जी तैयार कर लेता है। खादी-विभाग अलग से अपना कार्य करके खादी की आवश्यकता पूरी कर देता है। कुम्हारी-विभाग घड़े, अमृत-बान, प्यालियाँ आदि बना देता है, और प्रयोगशाला-विभाग चरखे तथा उसके आवश्यक सामान और कुछ लुहारी की आवश्यक माँग पूरी कर देता है। लेखक स्वयं इस प्रयोग-शाला का व्यवस्थापक था, और उसने धनुष-तकली पर आवश्यक प्रयोग किए। इसी प्रकार गोशाला-विभाग भी

सेवाग्राम-आश्रम में मौलाना आजाद, सरदार पटेल आदि नेताओं की भीड़

नेताजी सुभाषचंद्र बोस और डॉ० राजेंद्रप्रसाद

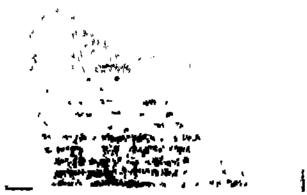

श्रीआर्यनायकम्
संचालक हिंदुस्तानी तालीमी संघ, सेवाग्राम

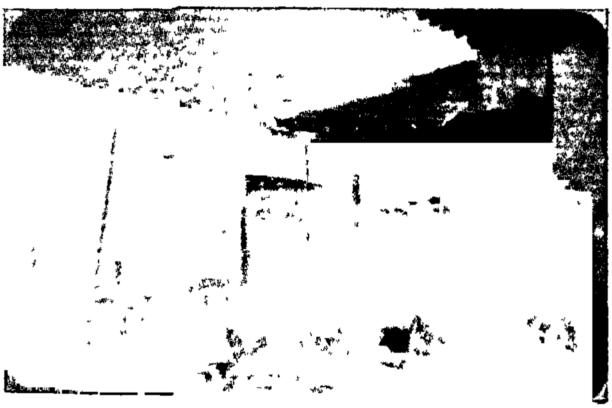

प्रो० भंसाली और उनके शिष्य
[बाएँ से पहले प्रो० भंसाली और तीसरे श्रीआर्यनायकम् की इकलौती पुत्री]

अपना कार्य सुचारु रूप से करता और प्रत्येक आश्रमवासी को विशुद्ध दूध, दही, घी, मक्खन इत्यादि देता है। बौद्धिक भूख मिटाने के लिये बहुत बड़ा वाचनालय तथा पुस्तकालय है, जहाँ सैकड़ों पत्र-पत्रिकाएँ और हजारों पुस्तकें विद्यमान हैं। वैसे ज्ञान-वृद्धि के लिये जहाँ पूज्य किशोरलाल भाई, प्रो० भंसाली, आचार्य परचुरे और श्रीमहादेव देसाई-जैसी महान् विभूतियाँ रही हों, वहाँ क्या कमी ?

हिंदुस्थानी-तालीमी संघ

हिंदुस्थानी-तालीमी संघ स्थापित करने का प्रस्ताव हरिपुरा-कांग्रेस में, फ़रवरी सन १६३८ में, स्वीकृत हुआ था। संघ का उद्देश्य है बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा का प्रसार करना। इस संघ के सभापति डॉ० जाकिरहुसैन तथा मंत्री श्रीई० डबल्यू० आर्यनायकम् हैं। श्रीमती आशादेवी आर्यनायकम् भी संघ की कार्यकारिणी में हैं, और संघ के कार्य में अनवरत परिश्रम करती हैं।

तालीमी संघ की स्थापना ऐसे समय में हुई, जब बिहार, उड़ीसा, बंबई, मध्य-प्रांत, मद्रास एवं युक्त प्रांत में सर्व-प्रथम प्रांतीय जनप्रिय सरकारें बनी थीं। इसका एक ठोस, अमली कार्य-क्रम बनाने के लिये सरकारी और ग़ैर सरकारी शक्तियों से प्रस्ताव किया गया। अक्टोबर, सन् १६३६ में मध्य-प्रांत की स्थानीय स्वराज्य-संस्थाओं के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन सरकार ने वर्धा में बुलाया, और उसके सामने चर्चा के लिये

यह प्रस्ताव रक्खा गया कि स्थानीय स्वराज्य-संस्थाओं के मौजूदा प्राथमिक स्कूलों को बुनियादी स्कूलों में बदल दिया जाय। इस योजना के सब पहलुओं पर काफी चर्चा होने के बाद सम्मेलन ने इस योजना को दो शर्तों पर अपनी शालाओं में जारी करना स्वीकृत किया—

१—प्रांतीय सरकार उत्पन्न माल को उतनी कीमत पर खरीदना स्वीकार करे, जितनी स्थानीय संस्थाएँ और सरकार मिलकर सामग्री की क़ीमत और उस पर लगी हुई मज़दूरी के आधार पर तय करें, जिससे स्थानीय संस्थाओं को कोई नुकसान न पहुँचे।

२—प्रांतीय सरकार उन स्थानीय सस्थाओं को, जिन्हें अपने स्कूलों में योजना जारी करने के लिये खर्च की या पूरे खर्चे के कुछ हिस्से की ज़रूरत हो, रुपया पेशगी दे, जो सालाना किस्तों में अदा कर दिया जाय।

इस प्रस्ताव के अनुसार बिहार, युक्त प्रांत और सी० पी० की कांग्रेसी सरकारों ने—जब १६३७ में कांग्रेसी मंत्रिमंडल उक्त प्रांतों में बने—वर्धा-योजना को चलाया। उस समय यह केवल एक परीक्षा-प्रयास था, परंतु प्रयास सफल हुआ। और, अब सभी शिक्षा-विशारदों ने इस योजना को भारत की शिक्षा-पद्धति में अनुपमेय और अत्यंत उपयोगी माना है। बिहार और यू० पी० में इस योजना के अंतर्गत हजारों स्कूल चल रहे हैं। भारत-सरकार ने भी इसे देश में प्रचारित करने का निश्चय किया है। बिहार में, अभी हाल में, पहली कक्षा से ८वीं कक्षा तक पढ़ाई के लिये जो कार्य-क्रम बना, उसमें इसी योजना

का सिद्धांत निहित है। सभी शिक्षा-विशेषज्ञ आज इस योजना को देश-भर में चलाने का प्रयत्न कर रहे हैं।

खादी-विद्यालय

तालीमी संघ के सामने ही, एक विशाल क्षेत्र में, खादी-विद्यालय के भवन निर्मित हैं। खादी-विद्यालय के व्यापक कार्यों को देखते हुए उसे विद्यालय की जगह विश्वविद्यालय या महाविद्यालय कहना अधिक उपयुक्त होगा। विद्यालय का उद्घाटन १ जुलाई, सन १९४१ को हुआ था। पूज्य गांधीजी ने उद्घाटन-भाषण में, विद्यार्थियों के सामने, संपूर्ण खादी-शास्त्र एवं उसकी व्यावहारिक शिक्षा की जानकारी पर प्रकाश डाला, और आए हुए विद्यार्थियों को संबोधित करते हुए कहा—"आप खादी की शिक्षा प्राप्त करके अपने राष्ट्र-निर्माण की ज़िम्मेदारी पूरी करें, आपसे मैं केवल इतना ही चाहता हूँ।" यह तो पूज्य बापू साधारणतया कहा करते थे कि जो जिस काम में जहाँ और जिस प्रकार है, वह वहीं से अपना कर्तव्य दृढ़ता के साथ पूरा करे, यही उसकी सफलता की कुंजी है। उछल-कूद मचाने से सफलता दूर भागती है।

खादी-विद्यालय में विद्यार्थियों को कपास की खेती से लेकर बाजार में कपड़ा बिकने तक की शिक्षा वैज्ञानिक, राजनीतिक तथा आर्थिक दृष्टिकोण से दी जाती है। विद्यालय के पास कपास उपजाने के लिये विस्तृत भूमि है। कताई-बुनाई का सारा प्रबंध है। चरखा, करघा और उसके सारे सरंजाम

बनाने के लिये बढ़ई - विभाग तथा लुहारी-विभाग है, जिसे सरंजाम-कार्यालय कहते हैं। व्यापारिक दृष्टिकोण से शिक्षा देने के लिये बाजार उनका भांडार है।

सन् १९४२ में तत्कालीन सरकार द्वारा दमन किए जाने पर भारत की अन्य राष्ट्रीय संस्थाओं की भाँति ही सेवाग्राम-आश्रम तथा उसकी अन्य संस्थाओं की अवस्था भी छिन्न-भिन्न हो गई थी, पर सन् १९४४ के बाद से उनका संगठन फिर से हुआ, और आज वे अपना कार्य त्वरित गति से पूरा कर रही हैं।

सेवाग्राम आज निस्संदेह ही एक पवित्र तीर्थ-स्थान बन गया है, जहाँ जाकर हम अपने प्यारे बापू की पावन स्मृति को ताजी करते और प्रेरणा ग्रहण करते हैं। बापू का पार्थिव शरीर अवश्य ही पंचभूतों में मिल गया है, किंतु उनका सूक्ष्म शरीर आज हमारा नेतृत्व करता है, हमें भले रास्ते पर चलने की ओर इंगित करता है, और चिरकाल तक करता रहेगा। बापू का त्याग बापू की तपस्या, बापू की साधना सेवाग्राम के कण-कण में बिखरी पड़ी हैं। वे आज भी हमें प्रेरणा प्रदान करने के लिये आह्वान कर रही हैं।

बापू और बा

बापू के दर्शन का वह मेरा पहला ही अवसर था। वह सेवाग्राम के अपने उस कुटीर में बैठे हुए कुछ कार्य कर रहे थे, जहाँ से मानवता का अमर संदेश समस्त विश्व को देते और अपनी आध्यात्मिक प्रेरणा द्वारा भारत की राजनीतिक, किंतु अहिंसक लड़ाई का संचालन करते थे। मैंने उनका दर्शन कुटीर के मुख्य द्वार से किया। उस समय उनके पास सुश्री राजकुमारी अमृत कौर, जो काफी दिनों तक उनकी निजी सेक्रेटरी रह चुकी हैं, बैठी थीं। जिस प्रकार व्यक्ति विशेष को किसी महापुरुष का दर्शन करके जो आनंद मिलता है, वही मुझे भी मिला। स्वभावत. ही मेरा मस्तक नत हो गया, और रोमांच हो आया। मेरे साथ वर्धा से आए हुए अखिल भारतीय चरखा-संघ के कार्यकर्ता ने मुझसे पूछा—"क्या बापूजी से मिलना चाहते हैं ?"

मैंने उत्तर दिया—"मुझे तो अब स्थायी रूप से वर्धा में ही रहना है, अत. फिर कभी मिलना ही बेहतर होगा।" निश्चय रूप से उस समय मेरे मन ने बापू का अमूल्य समय अनावश्यक बरबाद न करने का निर्णय दे दिया। मैं जानता था, कोई भी आवश्यक कार्य मेरे पास उस समय न था,

जिसके लिये मैं उनसे मिलता, और उनका अमूल्य समय नष्ट करता। बापू प्रायः काम के समय मिलते भी बहुत कम थे। यही कारण था कि जो दर्शनार्थी वहाँ आते, उन्हें बापू से मिलने के लिये आज्ञा न मिलती, और वे इसे बहुत ही कड़ुवा महसूस करते। किंतु बापू से मिलने अथवा बातचीत करने का निर्धारित समय संध्या-काल था, जब वह शाम का भोजन करके दूर तक टहलने जाते थे। प्रातः भी टहलने के समय बातचीत करने का अच्छा समय होता था। इसके अतिरिक्त कभी-कभी दोपहर के भोजन के पश्चात् भी, अधिक आवश्यकता होने पर, समय दे देते थे।

हम उस दिन सेवाग्राम में केवल एक घंटा रुककर वर्धा लौट आए। दुबारा मुझे 'खादी-विद्यालय' के उद्घाटन-समारोह में श्रीजाजूजी के साथ जाने का अवसर मिला। किंतु मैं उस समय बापूजी के उद्घाटन-भाषण पर उतना गौर न कर सका, जितना उनके व्यक्तित्व और मुख-मुद्राओं को देखता रहा। उनके मुँह से एक-एक शब्द इतना नपा-तुला और वज़नदार निकलता था, जिससे यह सहज ही जाना जा सकता था कि वह अपने भांडार से उतने ही शब्द व्यय करना चाहते हैं, जितने की उपस्थित विद्यार्थियों एवं श्रोताओं को आवश्यकता है। बापू एक शब्द भी अपने मुँह से ऐसा निकालना नहीं पसंद करते थे, जो निरर्थक हो। वह "वचने किं दरिद्रता ?"

के क़ायल न थे। इस अवसर पर वर्धा की सभी संस्थाओं के कार्यकर्ता एवं कुछ नागरिक भी पहुँचे थे। भाषण में मुख्यतया विद्यार्थियों को संकेत करते हुए उन्होंने कहा था—"आप यह न समझें कि आप कोई छोटा-मोटा अथवा साधारण-सा कार्य करने जा रहे हैं। आज से आपकी ज़िम्मेदारी और भी बढ़ जाती है, क्योंकि आपको देहातों में जाकर खादी का प्रचार करना है, और सर्व-साधारण को उसके अर्थ-शास्त्र का ज्ञान कराना है। यहीं तक नहीं, देश की भूखी-नंगी जनता की रोटी का सवाल हल करना है। आप यहाँ इस बात की शिक्षा लेने आए हैं, जिसकी देश को महान् आवश्यकता है........।"

बापू का भाषण तो बहुतों ने सुना है, और अधिकतर भारतीयों ने। वे उनकी भाषण-शैली से ख़ूब परिचित हैं। जिस प्रकार किसी गहरी नदी का जल गंभीरता से 'कुल-कुल' करके बहता है, और उसमें एक नाद-माधुर्य होता है, उसी प्रकार बापू के भाषण में भी एक आकर्षण होता था।

वर्षों की दबी अभिलाषा तब जाकर पूर्ण हुई, जब मैंने बापू की सौम्य मूर्ति अत्यंत निकट से देखी। वही बापू, जिनके संकेत-मात्र पर हज़ारों और लाखों लोग अपनी बलि चढ़ाने को सदैव उद्यत रहते थे। निस्संदेह उनके व्यक्तित्व में इतनी अधिक मोहकता थी, मेरे सामने श्रीजाजूजी ने यह

प्रस्ताव रक्खा—"गांधीजी की इच्छा है कि धनुष-तकली पर, जिसे भारतानंदजी ने कुछ समय पूर्व बनाया था, कुछ प्रयोग होना चाहिए। अस्तु, क्या आप सेवाग्राम में रहकर प्रयोग करना पसंद करेंगे? आपकी व्यवस्था में ही वहां का सरंजाम-कार्यालय दे दिया जायगा।" मैं तो यह चाहता ही था। मैंने हामी भर ली, और उसके दूसरे दिन तैयारी भी कर दी।

इस प्रकार मैं बापू के और भी निकट पहुँच गया, और अपना कार्य करने के साथ-साथ उनके दैनिक जीवन का गंभीरता के साथ अध्ययन करने लगा। मेरे लिये बापू का दैनिक जीवन ही विशेष महत्त्व रखता था। उनका राजनीतिक और सामाजिक जीवन तो सभी जानते हैं, और वह तो दूर रहकर भी जाना जा सकता है। मैं जब तक सेवाग्राम में रहा, बापू को सदैव परिवार के एक आदरणीय बुजुर्ग-जैसा ही मानता रहा। मैं ही क्या, लगभग सभी आश्रमवालों की दृष्टि में उनका यही रूप अधिक प्रिय था। आश्रम के किसी भी सदस्य को शारीरिक अथवा मानसिक कोई भी कठिनाई होने पर वह सीधे बापू के यहाँ दौड़ जाता, और उसे क्या करना चाहिए, एक बच्चे की भाँति उनसे पूछता। बापू ऐसे अभिभावक थे, जो हम लोगों से दूर तो थे, किंतु अत्यधिक निकट भी। अपनी बात कहने अथवा आदेश लेने का सबसे अच्छा समय हम लोगों के लिये भी वही शाम का होता। उस समय बापू धीरे-धीरे

पूज्य बापू

पूजनीया माता कस्तूर बा

सबकी बातें सुनते जाते, और बीच-बीच मजाक भी करते जाते। हम उस समय उनके विनोदी स्वभाव से पूरा-पूरा लाभ उठाते, और खूब खुलकर हँसते। बापू की हँसी का क्या कहना—जिसने उनका मुक्त हास एक बार भी देखा होगा, वह निश्चय ही उतने क्षणों के लिये आत्मविभोर हो गया होगा। फिर क्या उस अवसर को जीवन के किसी भी क्षण में भुला सकेगा ?

आश्रम-वासियों में कुछ ऐसे लोग भी थे, जो बापू के संपर्क से आध्यात्मिक चेतना एवं शांति प्राप्त करने के लिये वहाँ रहते थे। उन सभी लोगों को बापू ने नियम-पूर्वक काम दे रक्खा था। बापू कहते थे—"रातो दिन काम में व्यस्त रहना ही प्रार्थना है, और एकमात्र यही शांति प्राप्त करने का साधन भी।" उनका विश्वास था कि अकर्मण्य व्यक्ति देश, समाज और धर्म, सभी के लिये कोढ़ सिद्ध होता है। अस्तु, किसी के जिम्मे आश्रम के बच्चों को पढ़ाने का काम, किसी के जिम्मे रसोई की व्यवस्था, तो किसी के जिम्मे खेतों की रखवाली का काम था। यहाँ तक कि जो दो-चार दिन का मेहमान बनकर भी आता, समान रूप से उसे भी रसोई और चक्की-पिसाई आदि के कामों में हाथ बटाना पड़ता। अपने हाथों ही सहयोग से सारा कार्य करना उन्हें अच्छा लगता था।

बापू महिला-आश्रम की उन लड़कियों से, जो समय-समय

पर उनका भाषण सुनने की इच्छा से आश्रम में आया करती थीं, सेवाग्राम की सफाई का काम लिया करते थे, और तब उन्हें दलिया का जल-पान देते, और कुछ विशेष बातें उनकी नैतिक उन्नति के लिये बताते। बापू को सफाई का कार्य अधिक प्रिय था। वह समान रूप से आंतरिक और बाह्य सफाई चाहते थे। लड़कियों को बापू लड़कों से किसी भी मानी में कम अथवा कमज़ोर नहीं समझते थे। इसीलिये उनसे कठिन-से-कठिन काम लेना वह पसंद करते थे। वह स्त्रियों को कोमलांगी अथवा असूर्यम्पश्या समझने के कट्टर विरोधी थे। उन्हें मुक्त वायु-सेवन करने तथा स्वास्थ्य के लिये चक्की चलाने, पानी भरने और दौड़ लगाने के लिये सदैव प्रेरित करते रहते। आश्रम में लड़कियाँ भी रहती थीं, और समान रूप से पुरुषों के साथ-साथ प्रत्येक काम में भाग लेतीं। वहाँ स्त्रियों के लिये कोई भी ऐसी सुविधा न थी, जिसमें उन्हें स्त्री समझकर विशेषता दी जाय।

आश्रम के विस्तृत हाते में यद्यपि बापू निरीक्षण की दृष्टि से कभी नहीं घूमते थे, तथापि उन्हें प्रत्येक बात का पता रहता था। वह आश्रम के शासक न थे, फिर भी उनकी इच्छा के विरुद्ध किसी को कोई कार्य करने का साहस न होता। वह समान रूप से रसोई, आश्रम-व्यवस्था, खेती आदि के कामों में अपनी सलाह दिया करते थे। रसोई में तो प्रायः उनका प्रयोग चलता। कभी केवल कच्चे साग और

रोटी पर ही निर्भर रहते, तो कभी केवल मक्खन निकाले हुए दूध पर ही रहकर यह निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न करते कि उससे कितना फायदा और कितना नुकसान होता है। उनके ये प्रयोग कम-से-कम पंद्रह दिन अथवा एक महीने तक चला करते और स्वास्थ्य पर उनका जो प्रभाव पड़ता, उसे तख्तों पर लिखवाकर बरामदे में लटकवा देते। इस तरह उनका प्रत्येक कार्य समाज, राष्ट्र एवं विश्व-कल्याण के लिये होता। मुझे आज भी याद है, जब तख्तियों पर यह लिखवाकर टँगवा दिया था—"हरे साग के साथ रोटी खाने से दाल, मसाला, घी और तेल की बचत तो हो ही जाती है, साथ ही कम रोटियों में ही काम चल जाता है। इससे पोषक शक्ति में किसी प्रकार की कमी नहीं आने पाती, बल्कि वज़न और बढ़ता ही है।"

उस समय लड़ाई चलते हुए एक वर्ष से कुछ ही दिन अधिक हुए थे, फिर भी वह यह भली भांति समझते थे कि खाद्य वस्तुओं की भारी कमी होनेवाली है। लोग सब्जियों पर आसानी से रह सकेंगे। एक दिन संध्या की प्रार्थना में तो उन्होंने भविष्य में होनेवाली कपड़ों की कमी की ओर भी संकेत किया था। उन्होंने कहा था—"चूँकि स्त्रियों को साड़ी के लिये काफी कपड़े की जरूरत पड़ती है, इसलिये वे अम्तुल सलाम बहन की भांति पाजामा पहनने की आदत डालें। लोग घर-घर चरखा चलावें, और स्वयं

अपने कपड़े की व्यवस्था करें।" पर देश ने लड़ाई में रुपया कमाने के आगे चरखे की अवहेलना की। किंतु सबने देखा कि रुपया रहते हुए भी लोगों को चीथड़ा पहनना पड़ा।

आश्रम में बापू विशेष अवसरों पर ही बोला करते थे। वह दूसरे की भावनाओं को खूब अच्छी तरह जानते और उसकी इज्ज़त करते थे। खादी-विद्यालय का एक विद्यार्थी इतना अधिक भावुक था कि वह उनके नित्यप्रति पैर छूने के लिये अपनी प्रार्थना पर अड़ गया। बापू ने उसे प्रातः टहलने के लिये निकलते समय पैर छूने का अवसर दिया। फिर भी उसे यह हिदायत कर दी कि वह इस कार्य के लिये अपना अधिक समय नष्ट न करे।

वैसे बापू की प्रत्येक घटना तथा प्रत्येक दिन पर एक-एक पुस्तक लिखी जा सकती है, किंतु हम अपने सामने की कुछ ऐसी ही घटनाओं का उल्लेख कर रहे हैं, जो वास्तव में घरेलू और महत्त्व-हीन घटनाओं-सी जान पड़ती हैं। परन्तु जब भी आप उन पर गंभीरता से विचार करेंगे, तो उनमें आपको जीवन का महान् तत्त्व मिलेगा। बापू में बच्चों-सी सरलता और कोमलता थी। वह आडंबर से काफ़ी दूर रहते थे। वह किसी भी बात को उसी प्रकार कहते, जैसी वह होती। मैं तो बापू के संबंध में इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि "जाकी रही भावना जैसी, प्रभु-मूरति देखी तिन तैसी।" उन्हें जिन्ना और

अंबेदकर ने अपना दुश्मन समझा, स्व० बजाज-जैसे पूँजीपति ने अपना पिता, और देश-विदेश ने शांति के संदेश-वाहक के रूप में देखा। कैसी विचित्रता है, किसी-किसी ने तो उन्हें अवतार समझा, किंतु उनके निकट आठो पहर रहनेवाले लोगों ने अपना सबसे बड़ा हितैषी समझा।

बापू इंद्रजित तो नहीं पर इंद्रियजित थे। इंद्रिय-जित की शक्ति का अनुमान लगाना सहज नहीं। एक दिन मैं अपने एक गुजराती मित्र के साथ बापू की कुटी में गया, तो वह अपना ११ बजे का भोजन करके आए थे। हमने नमस्ते किया, और मेरे मित्र ने अपना परिचय दिया। उक्त मित्र साबरमती-आश्रम से ही बापू से परिचित थे। अस्तु, बापू ने उन्हें पहचान लिया, और गुजराती में कहा—"मुझे आराम करने के लिये केवल १० मिनट का समय दो।" मित्र ने सिर झुका दिया, और बापू अपने आसन पर ही सो गए। वह लेटते ही गहरी नींद में खर्राटे भरने लगे। हमने अपने सामने घड़ी रख ली थी। हमने देखा, वह ठीक दस मिनट बाद उठे, और पूछा—"क्या समय हो गया ?"

बापू कल्पना में उड़नेवाले नहीं, अपितु जमीन पर पैर रख कर चलनेवाले प्राणी थे। अपनी पत्नी, पुत्रों तथा पौत्रों के अति-रिक्त ये विश्व-भर को अपना परिवार मानते थे। "उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।" बा ने सदा ही उनके चरण-चिह्नों पर पैर रक्खा, और बापू कभी उनकी ओर से

लापरवाह न रहे। यद्यपि बापू उन्हें मा मान चुके थे, तथापि बा उन्हें पति के रूप में ही मानती थीं। बा गृह-स्वामिनी की भाँति सदा उनकी चिंता रखतीं।

उस दिन, जब जमनालाल बजाज गोलोक-वासी हुए थे, वर्धा से लौटकर बा को ग़श आ गया। वह बा-निवास में लिटा दी गईं, और बापू प्रार्थना में पधारे, जो समाप्तप्राय थी। प्रार्थना समाप्त होते ही बापू उनके उपचार में लग गए। मैंने अपनी आखों देखा है, वह समय-समय पर बा से अन्यान्य कार्यों में परामर्श लिया करते थे। बा कभी "हाँ" के अतिरिक्त "न" नहीं करती थीं। बापू के लड़के भी जब उनसे मिलते, तो वे कुछ क्षण के लिये पिता के ही रूप में बातें करते, और फिर देश के महत्त्व-पूर्ण कार्य में व्यस्त हो जाते। पौत्र-पौत्रियों से तो कहना ही क्या—बच्चे तो उन्हें अत्यधिक प्यारे और उनके मनोरंजन के साधन थे। बा अपने निवास में बैठकर सुमित्रा (रामदास गांधी की लड़की) की चोटी गूँथतीं, और कनू (सुमित्रा का छोटा भाई) को स्नेह से अपने निकट बैठाकर बातें करती जातीं।

बा कोई विदुषी न थीं। किंतु मानव-हृदय का ज्ञान उनका बड़ा ही ऊँचा था। बापू के निर्माण में बा का सबसे बड़ा हाथ था। इसे स्वयं बापू भी स्वीकार करते थे। बापू जहाँ-जहाँ रहे, बा भी छाया की भाँति उनके साथ-साथ बनी रहीं, और अंत तक सर आग़ाख़ाँ-पैलेस में उनके साथ-साथ नज़रबंद

रहकर ही अपनी जीवन-लीला समाप्त की। बा आश्रम में रहकर भोजन-गृह का विशेष ध्यान रखती थीं, मा का हृदय जो था।

सेवाग्राम की आज की स्थिति का ध्यान आते ही हृदय काँप उठता है कि वह आज कितना सूना हो गया होगा। वह एक दिन सूना तो होने ही वाला था, किंतु असमय की कल्पना ही दुःखदायी होती है। वस्तुतः महापुरुषों के महाप्रयाण का कोई भी उचित समय नहीं होता, और वे जब चल पड़ते हैं, तभी उपयुक्त समय होता है। आज भी लोगों का कहना है कि बापू के आकस्मिक प्रयाण ने देश में अप्रत्याशित शांति स्थापित कर दी, और लोगों में सहिष्णुता के भाव भर दिए। जो कुछ भी हो, ये तो राजनीति की बातें हैं। हमने तो सेवाग्राम का वह दृश्य देखा है, जब वह क्रमशः बनारस और साबरमती के लिये प्रस्थान कर रहे थे। बापू के चले जाने के पीछे ऐसा जान पड़ता था, जैसे आश्रम में कोई जीवन ही नहीं। एक विचित्र-सा वातावरण हो गया था। बापू के साथ-साथ जाने के लिये वहाँ के बच्चे तो और भी आफ़त बरपा कर रहे थे। क्योंकि बापू बच्चों को सबसे अधिक प्यारे थे।

आज उनका पार्थिव शरीर पंचभूतों में मिल चुका है, किंतु वह तो अमर हो गए! उनके अमर संदेश वायु के एक-एक झोंके के साथ गूँज रहे हैं। आज दुनिया उन्हें पहचानने लगी है, और वह उनके एक-एक वाक्य, एक-एक शब्द की खोज

में व्याकुल है। किंतु हमें तो उनके पार्थिव शरीर से मोह था, इसलिये हम उनके बिछोह से पागल हैं।

बापू! तुम सत्यं-शिवं-सुन्दरम् के एक ही रूप थे। तुमको युगों तक नमस्कार।

स्व० जमनालाल बजाज

गांधी-युग में भारत के जिन देश-सेवी लक्ष्मी-पुत्रों का परिचय देश-वासियों को मिला है, उनमें स्व० बजाज अपना एक प्रमुख स्थान रखते हैं। आपका सारा जीवन ही राष्ट्र-निर्माण में प्रवृत्त रहा, आप स्वयं ही एक सार्वजनिक और व्यापक संस्था थे। आपका खाना-पीना, उठना-बैठना एवं सोना-जागना तक जन-सेवा का एक अंग रहा। आप एक प्रतिभाशाली जागरूक साधक थे, आपका सारा जीवन संयम और साधन में व्यतीत हुआ था। आप ग़रीब पैदा हुए थे, किंतु पालन-पोषण वैभव की गोद में हुआ। लाखों की संपत्ति के मालिक बने थे, फिर भी ग़रीब-के-ग़रीब ही रहे। आपने धन के पीछे दौड़ने का प्रयास स्वप्न में भी न किया, और अंत तक इस धन और वैभव को अपना न समझकर ही रहे।

आपका जन्म ४ नवंबर, १८८९ ई० में, सीकर से कुछ मील पर, काशीवास-नामक ग्राम में, हुआ था। उस समय उस ग्राम की कोई अपनी प्रमुखता न थी, किंतु आज सीकर में स्व० बजाज का यह निवास-स्थान 'कमरे' के नाम से प्रसिद्ध है। यह कमरा विशाल अट्टालिकाओं का एक अहाता है, केवल एक कमरा ही नहीं।

आपकी उम्र अभी केवल ५ साल की ही थी, जब वर्धा में सेठ बच्छराजजी के स्वर्गीय पुत्र रामधनजी के गोद आए, और वहीं रहने लगे। सन् १८९६ में आप पढ़ने के लिये बैठाए गए, किंतु चार वर्ष बाद ही आपने स्कूल छोड़ दिया। पढ़ाई छोड़ने के ठीक एक वर्ष बाद आपका विवाह कर दिया गया। इस समय आपकी आयु केवल बारह वर्ष की थी। इस उम्र में आपकी असाधारण गंभीरता तथा चिंतनशीलता पर लोगों को आश्चर्य हुआ करता था। किंतु उस समय किसी ने भी आगे आनेवाले जमनालाल को नहीं पहचाना था। लोग प्रायः आपके भविष्य में व्यापार-कुशल होने का ही अनुमान लगाकर प्रसन्न हो लिया करते थे।

आपके पितामह श्रीबच्छराजजी स्वभाव से 'दुर्वासा' थे। एक बार उन्होंने आपको बहुत-सी कड़ी बातें कहीं। उस समय १७ वर्ष के जमनालाल ने जिस प्रकार पत्र द्वारा उन्हें उत्तर दिया, उसके देखने से पता चलता है कि आप कितने दृढ़ विचार के तथा निर्लोभ थे। यह पत्र त्याग-पत्र के रूप में था, जिससे साफ़-साफ़ व्यक्त होता था कि उस धन से आपको कोई ममता नहीं थी। पत्र मारवाड़ी में लिखा गया, जिसका हिंदी आशय इस प्रकार है —

"आपकी तबियत आज मुझसे बहुत नाराज हो गई। कोई हर्ज नहीं। श्रीठाकुरजी की मर्जी; और गोद लिया हुआ था, जिससे आपने इस तरह कहा।......पैसा आपका कमाया

हुआ है, आपकी जो इच्छा हो, करें। आपके ऊपर मेरा कोई अधिकार नहीं है। आपने आज तक तो मेरे लिये जो कुछ खर्च किया, वह तो किया; आगे आपसे एक छदाम कौड़ी भी लूँगा या मँगाऊँगा नहीं। आप अपने मन में किसी तरह का विचार न करें। पैसा अपने पास लेकर मैं क्या करूँगा? मुझे तो पैसा पास रखने की बिलकुल परवा नहीं है। आपकी दया से श्रीठाकुरजी का भजन-स्मरण जो कुछ होगा, करूँगा; जिससे इस जन्म में भी सुख पाऊँ और अगले जन्म में भी सुख पाऊँगा। आप अब तक माया-जाल में फँसे रहे हैं, तो आज आपके उपदेश से माया-जाल से छूट गया है।"

प्रौढ़ों में भी दुर्लभ, अनासक्ति तथा त्याग की इस उच्च भावना का एक १७ वर्षीय किशोर में पाया जाना सचमुच ही आश्चर्य-जनक है। आपके उपयुक्त पत्र से सेठ बच्छराजजी अत्यधिक प्रभावित हुए, और तब से न-जाने कैसा उनमें परिवर्तन आ गया कि फिर कभी एक शब्द भी अप्रिय कहने का उनका साहस न हुआ।

यह जानकर कोई भी आश्चर्य कर सकता है कि आप केवल १९ वर्ष की अवस्था में ही, अर्थात् सन् १९०८ में, ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट बने, और आपने बड़ी चतुरता से कार्य किया। सन् १९१० ई० में, श्रीश्रीकृष्णदास जाजू के सहयोग से, 'मारवाड़ी-विद्यार्थी-गृह' स्थापित करके आपने पहलेपहल

सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया। क़रीब-क़रीब यहीं से वर्धा में सार्वजनिक सेवा-कार्य का श्रीगणेश होता है। इसी सिल-सिले में आपने मारवाड़-प्रांत की यात्रा भी की, तथा अनेक शिक्षा-संस्थाओं का निरीक्षण भी किया। वहाँ से लौटकर आपने एक नए ढाँचे पर 'मारवाड़ी-हाईस्कूल, वर्धा' की स्थापना की, जिसमें व्यापारिक शिक्षा को प्रधान स्थान दिया। इस ओर निरंतर बढ़ती हुई अभिरुचि के फल-स्वरूप आपने बंबई में 'मारवाड़ी-विद्यालय' तथा 'मारवाड़ी-शिक्षा-मंडल' की स्थापना की। यह कार्य सन् १६१५ में हुआ, और इसी समय बापूजी (महात्मा गांधी) से आपका प्रथम परिचय हुआ।

सन् १६१६ में, जिन दिनों साबरमती-आश्रम कोचरब-नामक स्थान पर था, आप वहाँ गए थे। आश्रम के पास तब कोई निजी मकान न था। कोचरब गाँव में एक किराए का बँगला था, जिसमें आश्रम चल रहा था। आपने बापू से मिलकर आग्रह-पूर्ण शब्दों में कहा—"वर्धा में आइए, वहाँ आश्रम स्थापित कीजिए।"

बापू ने उस समय यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि—"मैं गुजराती हूँ, गुजरात मे रहकर मै अधिक सेवा कर सकता हूँ। गुजरात की सेवा द्वारा भारत की सेवा करूँगा।"

किंतु सन् १६३४ में बापू को वर्धा आना ही पड़ा, और ३६ में सेवाग्राम में जा बसे। यह गाँव भी श्रीबजाजजी का ही है।

स्व० बजाज का झुकाव राजनीति की ओर होते देख

सरकार को कुछ चिंता हुई। अस्तु। उसने शीघ्र ही आपको 'रायबहादुर' की पदवी दे डाली। वास्तव में वह इस पद-लोभ द्वारा श्रीबजाज को फुसलाना चाहती थी, पर आप इस भुलावे में न आ सके। आपको जन-सेवा और देश-सेवा का आनंद मिल चुका था, इसलिये आपने इन कार्यों को बिलकुल न छोड़ा। यह सन १९१७ की बात है, जब आपने कलकत्ता-कांग्रेस में महात्माजी को मेहमान बनाया था। इसके बाद ही, सन १९१९ में, आप 'मारवाड़ी-अग्रवाल-महासभा, वर्धा' के स्वागताध्यक्ष बने, और 'मारवाड़ी - अग्रवाल जातीय कोष' स्थापित किया।

सन १९२० से तो आपके जीवन का बड़ा ही महत्त्व-पूर्ण अध्याय प्रारंभ होता है। इस सन मे ही आप महात्मा गांधी के पाँचवें पुत्र बने। नागपुर-कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष तथा कांग्रेस के कोषाध्यक्ष बने। आपने बापू के पाँचवें पुत्र बनने के अवसर पर लिखा—

'नागपुर की कांग्रेस के बाद से लोग मुझको कहने लग गए थे कि तुम बापू के पाँचवें बेटे हो। इसका कारण यह था कि उस कांग्रेस के बाद स्वयं मैंने लिखा था कि आपके शिष्यत्व के लायक़ मैं नहीं हूँ। लेकिन आपको अपना बाप जरूर बनाना चाहता हूँ। बाप और गुरु में भेद है। बाप बच्चे को सब कमजोरियाँ जानते हुए भी उसकी उन्नति की कोशिश करता है। उसकी कमजोरियों को हटाता है। इसलिये मैंने

अपने आपको पूज्य बापूजी का शिष्य मानने के बजाय बेटा माना।"

सन् १९२१ में आप असहयोग-आंदोलन में सम्मिलित हुए, और कांग्रेस को एक लाख की निधि अर्पण की। इसी समय सत्याग्रह-आश्रम, वर्धा की भी स्थापना की जिसमें श्रीविनोबा भावे का पूर्ण सहयोग रहा। इतना सब हो चुकने पर अब 'रायबहादुरी' के पुछल्ले का कोई जरूरत नहीं रह गई थी, इसलिये आपने उसे सरकार को लौटा दिया।

आपमें सत्य विचार और न्याय-बुद्धि इतनी तीव्र हो चुकी थी कि अपने राई-से दोषों को भी सदैव पहाड़-जैसा गिना। गांधीजी ने आपको पुत्र स्वीकार किया था, इसलिये उनसे आप कोई बात गुप्त न रखते थे, और सच्चे दिल से मानते थे कि इस प्रकार ही हम बापू के वास्तविक पुत्र बन सकेंगे। गांधीजी ने भी उनको अपना पुत्र बनाने में कोई कसर न रक्खी। सन् १९२२-२३ में साबरमती-जेल से लिखा था—

"तुम पाँचवें पुत्र तो बने हो, किंतु मैं तुम्हारे योग्य बनने का प्रयत्न कर रहा हूँ। दत्तक लेनेवालों का दायित्व कोई साधारण दायित्व नहीं। ईश्वर मेरी सहायता करे, और मैं इसी जन्म में उसके योग्य बनूँ।"

२४, जून, सन् २३ के 'नवजीवन' में स्व० बजाज ने लिखा था—

"जिस दिन मैं महात्माजी के पुत्र-वात्सल्य के योग्य हो

सकूँगा, वही समय मेरे जीवन के लिये धन्य होगा। महात्मा-जी की अनुपम दया से अपनी कमजोरियों को तो थोड़ा-बहुत पहचानने लगा हूँ।"

बहुत कम लोग इस बात को जानते हैं कि समयानुकूल और सस्ते साहित्य-सर्जन की प्रेरणा आप ही के द्वारा मिली थी। सन २४-२५ में, जब आप खद्दर-प्रचार के कार्य से राज-पूताने का दौरा कर रहे थे, आपने जीतमल लूणियाजी और श्रीहरिभाऊ उपाध्याय से सस्ता साहित्य-मंडल की चर्चा की। इसके पहले भी आपने दो-चार बार भिक्षु अखंडानंदजी के सम्मुख साहित्य-वर्द्धक कार्यालय का जिक्र करके हिंदी में भी उसी नमूने की, लेकिन राष्ट्रीय ढंग की संस्था बनाने के संबंध में हरिभाऊजी से कहा था। आपको हिंदी से बड़ा ही प्रेम था। आप हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, मदरास के अध्यक्ष बने, तथा हिंदी-साहित्य-सम्मेलन की ओर से राष्ट्र-भाषा-प्रचार के लिये महात्मा गांधी को भेंट करने के लिये एक लाख रुपया भी एकत्र किया।

सन् १६२८ में आपने नागपुर में झंडा-सत्याग्रह का संचालन बड़ी शेरदिली और कुशलता से किया, और कुछ ही दिनों बाद आप गिरफ्तार कर लिए गए, जिसमें आपको १॥ वर्ष की क़ैद तथा ३ हजार रुपए जुर्माने की सजा मिली। इसी सिलसिले में आपकी मोटर-गाड़ी आदि संपत्ति जब्त हुई, किंतु उसका कोई खरीदार हो न ठहर सका, अस्तु, वह पुनः

लौटा दी गई। सन् १९२७ में आप जेल से बाहर आए। इस प्रकार आपके सत्याग्रह में अपूर्व विजय प्राप्त करने पर नागपुर में आपका बड़ा शानदार स्वागत हुआ। सन १९२९ में हिंदी-प्रचार तथा खादी-प्रचार के लिये मद्रास की यात्रा की। इसी समय साइमन कमीशन के बहिष्कार के लिये देश को उत्साही तथा दृढ़-प्रतिज्ञ व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ी। अस्तु। श्री० बजाज ने इस बहिष्कार में महत्त्व-पूर्ण भाग लिया।

सन् १९३० में महात्माजी ने जब नमक-आंदोलन प्रारंभ किया, तो आपने भी आज्ञा प्राप्त कर विलेपार्ले में अपनी छावनी स्थापित की। इसके कुछ समय बाद ही बिजौलिया (मेवाड़) की जनता ने मेवाड़-राज्य के खिलाफ़ सत्याग्रह किया, जिसमें आपने मध्यस्थ रहकर राज्य तथा प्रजा में समझौता कराया। समझौते का कार्य आपसे कुछ अच्छा बन पड़ता था, क्योंकि देखा गया है कि आपने अपने जीवन में ऐसे कई महत्त्व-पूर्ण समझौते कराए। सन १९३६ में, ब्यावर में, मिल-मजदूरों की हड़ताल में समझौता कराया। इसके बाद, सन् १९३८ में, सीकर-जयपुर-कांड की मध्यस्थता। पुनः सीकर में राजपूत-जाट-प्रकरण को सुलझाना आपकी निष्पक्षता एवं सर्वप्रियता के प्रमाण हैं।

जयपुर-राज्य के प्रजामंडल के अध्यक्ष का पद ग्रहण करने के पश्चात् जयपुर-राज्य में आपके प्रवेश पर प्रतिबंध लगा

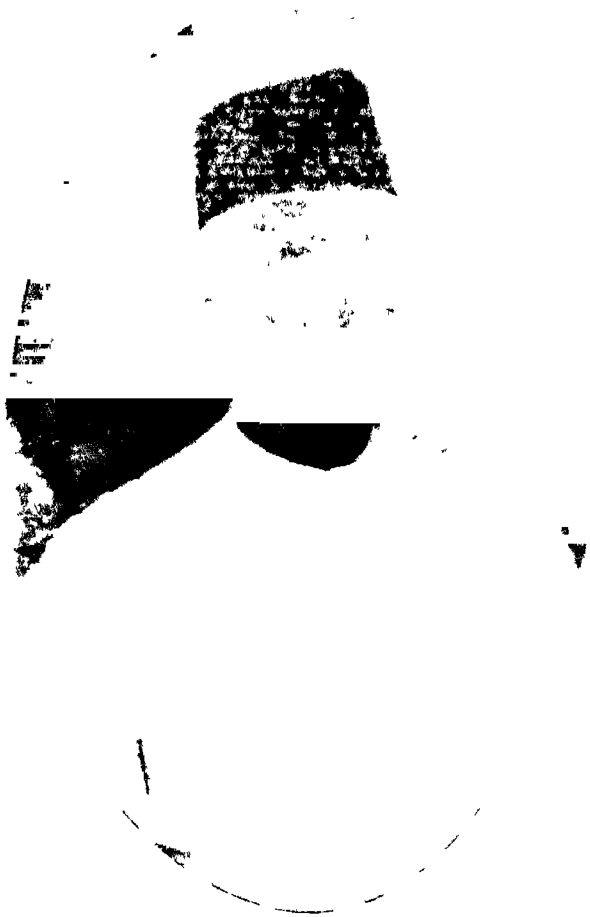

देश-भक्त स्व० जमनालाल बजाज

श्रीमती जानकी बाई

[स्व० जमनालाल बजाज की धर्मपत्नी]

दिया गया। इस दमनकारी आज्ञा की अवहेलना करने तथा वास्तविक नीति का रास्ता दिखाने के लिये आपने इस आज्ञा को सन १६३६ में भंग किया, और गिरफ्तार कर लिए गए। किंतु कुछ दिनों बाद ही छोड़ दिए जाने पर आपने सत्याग्रह प्रारंभ किया, जिसमें आपको ६ मास के लिये जेल में बंद कर दिया गया। जेल से छूटकर अभी आपने पूर्ण विश्राम भी न लिया था कि देश-व्यापी व्यक्तिगत सत्याग्रह का आह्वान हुआ, और नागपुर जेल में फिर विश्राम लिया। किंतु लगभग ६-७ महीने पश्चात् ही मुक्त कर दिए गए।

सरकार की ओर से समझौते के क़दम उठाए जाने के कारण पूज्य बापू ने व्यक्तिगत सत्याग्रह बिलकुल ही बंद कर दिया था। सभी लोग यत्र-तत्र संगठन-कार्य में लग गए थे। उस समय भला स्व० जमनालालजी क्योंकर बैठे रह सकते? उन्होंने भी बापू की सम्मति प्राप्त कर, सन १६४२ की १ली फ़रवरी को, गोसेवा-सम्मेलन बुलाया, और गोसेवा-संघ की स्थापना की।

स्व० बजाज सच्चे अर्थों में क्रांतिकारी थे। जहाँ तक आर्थिक जगत् का प्रश्न है, आपने परंपरागत स्थापना को तोड़कर गांधीजी के 'ट्रस्टीशिप' के सिद्धांत के आदर्श को अपनाने की जो कोशिश की, वह अभूतपूर्व थी। इसके पहले कितने लक्ष्मी-पुत्रों ने अपनी संपत्ति को वास्तव में 'जनता की धरोहर' समझा है, और उसको उसी के लिये अर्पण

कर दिया है? शायद इसके पहले राष्ट्रीय इतिहास इस प्रकार के किसी भी व्यक्ति की मिसाल नहीं पेश कर सकता। न-जाने कितनी संस्थाओं पर आपका वरद हस्त था, तथा जिनमें से अधिकांश आपके रुपयों से चलती थीं। अपने जीवन में आप पचीस संस्थाओं के ट्रस्टी, तेरह संस्थाओं के अध्यक्ष, नौ कंपनियों के डाइरेक्टर तथा चार संस्थाओं के कोषाध्यक्ष रहे, और दो महा अधिवेशनों के स्वागताध्यक्ष बने। कांग्रेस के कोषाध्यक्ष की हैसियत से तो आप सारे देश में प्रसिद्ध रहे। एक बार आप अखिल भारतीय कांग्रेस-कमेटी के स्थानापन्न सभापति भी रह चुके हैं।

मारवाड़ी-समाज की रीति-नीतियों में आपने जो क्रांति की, वह चिर-स्मरणीय रहेगी। अपने घर की स्त्रियों में पर्दा-प्रथा उठा देना, अपनी लड़कियों का अधिक उम्र में, जाति-पाँति तोड़कर विवाह करना, हरिजनों को अपने मंदिर में प्रवेश की आज्ञा देना, अपने घर में सभी जाति और धर्म के लोगों को बुलाकर उनके साथ भोजन करना तथा गांधीजी के आदर्शों के अनुसार निस्संकोच हरिजन-सेवा करना आदि उनके उन क्रांतिकारी कार्यों के प्रतीक हैं, जो मारवाड़ी-समाज में दो दशाब्दियों तक उथल-पुथल मचाते रहे।

और फिर, एक दिन ओवजाज इस व्यस्त जीवन की उलझनों को तुच्छ करके अचानक ही इस संसार से विदा हो गए। भारत के राष्ट्रीय इतिहास में ११ फरवरी, सन् ४२

दुःखदायी स्मृति के रूप में याद रहेगी। श्रीघनश्यामदास बिड़ला ने ठीक कहा कि—"उन्हें धीरज नहीं था कि मंज़िल पर धीरे-धीरे पहुँचे। इसलिये गाड़ी टूटती गई। तो भी जमनालालजी ने मुड़कर नहीं देखा। गाड़ी टूटती है या साबित रहती है, इसकी जमनालालजी को न कोई चिंता थी, न विषाद। ध्येय तो था मंज़िल पर पहुँचना। इसलिये शरीर की अवज्ञा करके भी उनकी आत्मा तो उड़ती ही जा रही थी। शरीर बेचारा आत्मा का कहाँ तक साथ दे सकता था? अंत में शरीर ने दौड़ने से इनकार कर दिया। जब ऐसा हुआ, तब आत्मा ने शरीर को भी छोड़ा, और अकेली दौड़ने लगी। आत्मा को तो दौड़ना है। उसे अपने मंज़िल पर पहुँचना है, तो फिर ताज़ा घोड़ा (शरीर) क्यों न पकड़ा जाय?"

गांधीजी ने श्रीबजाज के मरने पर लिखा—"वह किस तरह मेरे पुत्र बनकर रहे, सो हिंदुस्तानवालों ने कुछ-कुछ अपनी आँखों देखा है। जहाँ तक मैं जानता हूँ, मैं कह सकता हूँ कि ऐसा पुत्र आज तक शायद किसी को नहीं मिला।"

स्व० महादेव हरिभाई देसाई

राष्ट्रीय भारत के इतिहास में ६ अगस्त, सन् १६४२ के साथ-ही-साथ १५ अगस्त की दुःखदायी याद भी हमारे लिये चिर-स्मरणीय रहेगी। इस तिथि की जब-जब पुनरावृत्ति होगी, तब-तब यह बड़े दुःख के साथ याद किया जायगा कि भारत ने इसी १५ अगस्त को श्रीमहादेव हरिभाई देसाई-जैसा अपना एक यशस्वी तथा प्रभावशाली व्यक्ति खो दिया! और, वह भी ऐसी अवस्था में जब कि वह हमसे दूर, साम्राज्यशाही की क्रूर प्रवृत्तियों का शिकार होकर, एक अलग बँगले में नजरबंद कर दिया गया था। उस कर्तव्य-परायण व्यक्ति का मृत्यु-समाचार उस समय बिजली की तरह समस्त भारत में फैल गया, जब कि निकम्मी साम्राज्य-शाही से हम डटकर मोर्चा ले रहे थे। जन-आंदोलन दबाने के लिये नौकरशाही उग्र रूप से कटिबद्ध थी। जगह-जगह दमन-चक्र चल रहा था। जनता अत्यधिक त्रस्त और भयभीत हो रही थी। उस समय उक्त समाचार ने लोगों को कितना भारी धक्का पहुँचाया होगा, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। वह विवेकशील थे, दूरंदेश थे, और निःस्वार्थ सेवक तथा बापू के साथ-साथ चलनेवाले उनके दाहने हाथ थे।

आज से लगभग ५६ वर्ष पहले महादेव भाई का जन्म सूरत-ज़िले के बीया गाँव में हुआ था। आपके पिता श्री-हरिभाई देसाई उच्च ब्राह्मण-कुल के थे। आपका परिवार संपन्न तथा सुशिक्षित था। पिताजी अध्यापन-कार्य करते थे। यों भी उन्हें शिक्षा से गहरा प्रेम तथा घनिष्ठ संबंध था। उन्होंने अपनी शिक्षा-प्रियता एवं कार्य-कुशलता के कारण ही अध्या-पक-पद से उन्नति करके स्कूलों के डिप्टी इन्स्पेक्टर का पद प्राप्त किया था। उन्होंने महादेव भाई की शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया। सन् १९१० में महादेव भाई ने दर्शन-शास्त्र लेकर एम० ए० किया, और क़ानून पढ़ने लगे। सन् १९१२ में वका-लत पास कर प्रैक्टिस करने के लिये अहमदाबाद चले गए। प्रैक्टिस काफ़ी अच्छी चलती थी, किंतु कुछ दिनों पश्चात् ही बंबई-सरकार के को-ऑपरेटिव डिपार्टमेंट में इन्स्पेक्टर नियुक्त हुए। इसी समय महात्मा गांधी आफ्रिका से लौटे थे। उन्होंने आफ्रिका के आंदोलन के फल-स्वरूप जानकार लोगों में काफ़ी ख्याति प्राप्त कर ली थी। अस्तु। महादेव भाई ने उनके अन्यतम व्यक्तित्व को आँका, और महात्मा गांधी-जैसे मानव-वादी के साथ ही उनके आदर्शों पर चलकर अपना शेष जीवन व्यतीत करने का निश्चय किया। आपका निश्चय किस प्रकार दृढ़ और अटल रहा, यह सभी ने अपनी आँखों देखा है। गांधीजी के संपर्क में आते ही आपने नौकरी को तिलांजलि दे दी। यह आपकी सार्वजनिक सेवा

की पहली सीढ़ी थी—जिस पर वह क्रमशः चढ़ते ही गए।

प्रभातकालीन सूर्य के बढ़ते हुए प्रकाश के समान ही गांधीजी भी राजनीतिक क्षेत्र में अवतरित हुए थे। बड़े जोश और खरोश के साथ संगठन और सभाएँ होती थीं। दलितों की पुकार तथा देश के जागरण का संदेश भारत के कोने-कोने, घरों-घरों तथा हर व्यक्ति के कानों तक पहुँचाना था। देश को योग्य-कार्यकर्ताओं, सच्चे सेवकों, सफल साधकों तथा धुन के पक्के लोगों की ज़रूरत थी। गांधीजी उन दिनों जगह-जगह दौरा कर रहे थे। गुजरात के उत्तर-पूर्व में, गोधरा-नामक स्थान में, एक राजनीतिक सम्मेलन आयोजित किया गया था; महात्माजी भी पधारे थे। उक्त सुअवसर पर ही श्रीदेसाई ने दृढ़-प्रतिज्ञ होकर बापू के समक्ष अपने को देश-सेवा के लिये समर्पित कर दिया, और सत्याग्रह-आश्रम में प्रविष्ट हो गए।

महादेव भाई उच्च कोटि के पत्रकार थे—यह अधिकांश लोग जानते हैं। वह कई विदेशी भाषाओं के जानकार ही नहीं, वरन् उन पर अपना अधिकार रखते थे। फ्रेंच, लैटिन तथा अँगरेज़ी के वह विद्वान थे। वह 'यंग इंडिया' के सहायक संपादक तथा कुछ दिनों तक 'हरिजन' के संपादक रहे थे। उनमें कार्य करने की अजीब प्रतिभा थी। जिस काम को अपने हाथ में लेते, उसे अंत तक निभाने का प्राण-पण से प्रयत्न

करते थे। किसी के विचारों के पीछे लगना तो उन्हें आता ही न था; वह स्वतंत्र विचारक थे। प्राय: बापू के साथ उनकी बहसें छिड़ आया करती थीं। बापू भी उनकी आवश्यक सूझों का स्वागत करते तथा उनसे अधिकांश विषयों पर परामर्श किया करते थे। तभी तो उनको बापू के 'प्राइवेट सेक्रेटरी' होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

सन १६२० के प्रथम असहयोग-आंदोलन में आपने भाग लिया, जिसके फल-स्वरूप आपने जेल-यात्रा की थी। आप आगरे-जेल में रक्खे गए। वहाँ आपने काफ़ी अध्ययन किया। सन् १६३० के आंदोलन में आप 'कांग्रेस-सेक्रेटरी' थे, जब कि देश में उत्थान और दमन के बीच संघर्ष चल रहा था, तथा भारत-सरकार को कांग्रेस के उत्थान से काफ़ी खतरा जान पड़ रहा था।

महादेव भाई का अपना निजी व्यक्तित्व था। न तो उन्होंने कभी किसी का पिछलगुआ बनने की कोशिश की, और न किसी नाम के साथ-साथ अपने प्रचार का प्रयत्न ही किया। उनके अंदर किसी मनुष्य को मनचाहा मोड़ लेने की जो अद्भुत क्षमता थी, उसका परिचय हमें जगह-जगह पर मिलता है। श्रद्धेय ठक्कर बापा की सत्तरवीं वर्ष-गाँठ पर ७०,००० रुपयों का इकट्ठा होना भी जब प्रस्तावकों की सामर्थ्य के बाहर की चीज़ हो गई, तो महादेव भाई बापू के आदेशानुसार बंबई गए, और वहाँ से उन्होंने १ लाख बीस हजार की रक़म इकट्ठा

की। इस रक़म के इकट्ठा करने में सिर्फ़ उन्हें दो दिन लगे। यह शक्ति उनकी वक्तृता एवं व्यक्तित्व में थी। जब गुजरात में अकाल पड़ा था, उस समय भी बापू ने तीन लाख रुपया एकत्र करने के लिये महादेव भाई को ही भेजा था। पर उन्होंने ७-८ लाख रुपयों के लगभग एकत्र कर लिया। न-जाने उनमें कौन-सी ऐसी अद्भुत शक्ति थी कि उनके बिना बनाए लोग उनके मुरीद हो जाया करते थे। धनी-मानी लोगों में श्रीघनश्यामदास बिड़ला उनसे अधिक प्रभावित थे।

स्व० देसाई अनुशासन-प्रिय तो थे, किंतु उसके साथ-साथ स्वतंत्र विचारक भी अपूर्व ढंग के थे। वह बापू के अनन्य भक्त होते हुए भी उनके विचारों की भीख नहीं माँगते थे, बल्कि कभी तो काफ़ी देर तक के लिये वाद-विवाद हुआ करता था, किंतु वह ज़िद्दी न थे, अपनी ग़लत बहसों को शीघ्र ही मान भी लेते थे। अस्तु। गांधीजी पर उनका असर पड़ता था। एक बार किसी एक सम्मानित व्यक्ति को पत्र लिखते हुए महादेव भाई ने लिखा था—"मैं बापू का मंत्री, सेवक और पुत्र का एक सम्मिलित पुलिंदा हूँ।" यह बापू के निकटतम होने का स्पष्टी-करण है। इतना अधिक निकट होकर भी उन्होंने कभी 'उप-गांधी' बनने का प्रयत्न नहीं किया, और न कभी गांधीजी-जैसी वेष-भूषा अर्थात् लँगोटी और तन ढकने के अँगौछे का ही अनुकरण किया। हाँ, यदि अनुकरण किया, तो उनकी कर्मवीरता का, उनके ब्रह्मचर्य का, उनकी उदारता का। कहना न होगा कि

महादेव भाई बापू के अंतर की आवाज साफ सुना करते थे। इन पंक्तियों के लेखक की आँखों-देखी बात है कि यदि बापू कुछ लिखाते थे, तो महादेव भाई इस प्रकार लिखते थे, जैसे वह पहले से ही जानते हों। क़लम कहीं रुकती ही न थी। वास्तव में वह सफल पत्रकार एवं राजनीति-पारगत थे। कई बार उन्होंने अपने युक्ति-पूर्ण तर्क द्वारा बापू का अनशन करने से रोका है।

महादेव भाई ने गीता का शब्दार्थ सहित अनुवाद अँगरेज़ी में अत्यंत प्रामाणिक तथा टीका के साथ किया था, किंतु वह अब तक छप नहीं सका है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है—वह दर्शन-शास्त्र में एम० ए० थे, उन्हें पाश्चात्य तथा भारतीय दर्शन का अच्छा ज्ञान था। उन्होंने अन्य विषयों पर भी पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें से 'बारडोली का इतिहास', 'आज़ाद की जीवनी', 'दो खुदाई खिदमतगार' अधिक प्रसिद्ध हैं। साथ ही पं० जवाहरलाल नेहरू की 'आत्मकथा', टैगोर की 'चित्रा' और स्वर्गवासी शरत् बाबू की कहानियों का भी अनुवाद किया है। कांग्रेस के संबंध में एक पुस्तक लिखने के कारण, जो प्रकाशित हुई थी, आपको सन् १९३२ में सज़ा भुगतनी पड़ी थी।

हमारा इतना बड़ा पत्रकार, ग्रंथकार, राजनीतिविद्, साधक, विचारक, सेवक तथा जन-नायक आज हमारे बीच नहीं है। वह १५ अगस्त, सन् १९४२ को, पौने नौ बजे, अचानक चुपके

से, बिना हमें कोई संदेश दिए, बिना हमारे कुछ कहे, न-जाने किस ओर चल पड़ा। जान तो नहीं पड़ता कि वह कहीं चला गया है, किंतु लोग कहते हैं, वह अब नहीं रहा, और वह अब आएगा भी नहीं। तो क्या श्रीराजगोपालाचारी का यह कहना सत्य है कि "महादेव भाई की मृत्यु से बापू अनाथ हो गए?" क्या सचमुच ही उन्होंने बापू से हमेशा के लिये अवकाश ले लिया? हमने तो उन्हें उस समय भी अवकाश लेते हुए नहीं देखा, जब पैर में किसी प्रकार चोट आ गई थी, और वह इतना सूज गया था कि वह चल भी नहीं पाते थे। किंतु उन्हें न तो बापू के बिना अच्छा लगता था, और न काम के बिना। वह उसी प्रकार, लँगड़ाते हुए ही, बापू की कुटिया के पासवाले टेलीफ़ोन-केबिन में आए थे। लेखक ने उनसे पूछा था—"महादेव भाई! आपका पैर बहुत सूजा है; चलने से तो और भी तकलीफ़ देगा।"

"भाई! मैं अपने को कैसे रोकूँ, जब काम अपने को नहीं रोकता? चलने दो ऐसे ही।"

ये शब्द अब भी ताज़े हैं। वह मरे, और उनकी जो अंतिम अभिलाषा थी, वह पूर्ण करके मरे। वह चाहते थे बापू की गोद में ही अंतिम श्वासें लेना, ऐसा ही हुआ। वह अपने जीवन में सर्वथा सफल रहे। अपने पीछे वह अपनी पत्नी तथा एक लड़के और लड़की को छोड़ गए हैं। दुःखी परिवार महादेव भाई को भुला तो नहीं सकता, मगर अपने बापू की

छत्रच्छाया में असहाय नहीं महसूस करता । उनके एक लड़के को लोग नारायण देसाई के नाम से पुकारते हैं। वह खादी-विद्यालय के होनहार विद्यार्थी हैं ।

आचार्य विनोबा भावे

गत विश्वव्यापी महायुद्ध का सूत्रपात हो चुका था। सारे संसार में एक हलचल-सी मची हुई थी। सभी राष्ट्र अपनी स्वाधीनता के रक्षार्थ जोरदार तैयारियों में लगे हुए थे। सभी देश अपने महान् राजनीतिज्ञों और कूटनीतिज्ञों के सम्मेलनों तथा गुप्त वार्ताओं में संलग्न थे। षड्यंत्र चल रहे थे; हिटलर की विजय-वाहिनी तुमुल नाद एवं वज्रघोष करती हुई आगे बढ़ रही थी; उसके सामने जो कुछ पड़ता, ध्वस्त हो जाता; सारे देश स्तब्ध थे, सब भय-त्रस्त थे और अपने भविष्य की मंगल-कामना कर रहे थे। उस समय भारत की राजनीति में भी सामयिक परिवर्तन के लक्षण दिखाई पड़ने लगे थे। वह समय था, जब ब्रिटेन की साम्राज्यशाही विश्व की संस्कृति, सभ्यता एवं स्वतंत्रता के रक्षार्थ राष्ट्रों से सहायता की माँग कर रही थी; हिटलर के नाजीवाद तथा फासिज्म का खतरा संसार के सामने था; ब्रिटेन उसका सीधा लक्ष्य था। फलतः ब्रिटेन द्वारा भेजे गए सर स्टेफर्ड क्रिप्स ने भारतवर्ष के गण्य-मान्य नेताओं के सामने कुछ अनिश्चित-से प्रस्ताव पेश किए। ये प्रस्ताव क्या थे—भारतीय जनता की आँखों में धूल झोंकने की एक चाल थी, जो अंततः सफल नहीं हुई। उसी समय

महात्मा गांधी ने "पहले हमें स्वतंत्र करके प्रमाण दो कि वास्तव में तुम विश्व की स्वतंत्रता की रक्षा के लिये लड़ रहे हो, तब हमारी सहायता की अपेक्षा करो"—इस आशय की माँग की थी। उन्हीं दिनों भारत-सरकार की ओर से लड़ाई का चंदा ज़ोरों से वसूल किया जाने लगा था। हमने निश्चय किया था कि जब तक हम स्वतंत्र नहीं होते, लड़ाई में किसी क़िस्म की मदद नहीं करेंगे। इस पर सरकार के प्रचार-विभाग ने हमें भारत-रक्षा-विधान के अंतर्गत देश-द्रोही घोषित किया, और यह फ़रमान निकाला गया कि वर्तमान महायुद्ध के ख़िलाफ़ कोई भी प्रचार नहीं कर सकता, और सरकार जिस प्रकार चाहेगी, धन-जन का उपयोग करेगी। ऐसी अवस्था में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने, विश्व-वंद्य महात्मा गांधी के नेतृत्व में, पूर्ण विश्वास करके 'भाषण-स्वातंत्र्य'-रक्षार्थ व्यक्तिगत सत्याग्रह आरंभ किया, और घोषित किया कि "हमें स्वतंत्र रूप से बोलने का पूर्ण अधिकार है।"

सन् १६४० के समाचार-पत्रों द्वारा भारत में ही नहीं, वरन् सारे विश्व में यह ख़बर ज़ोरों से फैल गई कि इस 'भाषण-स्वातंत्र्य'-आंदोलन के प्रथम सत्याग्रही श्रीविनोबा भावे नियुक्त किए गए हैं। गांधीजी की सूची के वह प्रथम सत्याग्रही थे। यह समाचार बड़े आश्चर्य से पढ़ा गया, क्योंकि तब तक कुछ विज्ञ जनों या महाराष्ट्र-प्रांत तक ही विनोबाजी का नाम

सीमित था। अस्तु। महात्माजी के इस चुनाव से सभी की दृष्टि इस क्षीणकाय व्यक्ति की ओर गई; उनकी महत्ता की कल्पना स्वभावतः ही लोगों ने की। उनके संबंध में स्व० महादेव भाई देसाई ने एक जगह लिखा है—"जिसके जीवन में उत्तरोत्तर विकास होता जा रहा है, महात्माजी के अतिरिक्त ऐसा दूसरा व्यक्ति मैंने विनोबाजी को ही पाया।" विनोबाजी वास्तव में स्थित-प्रज्ञ होते चले जा रहे हैं। सन् १९३० के पहले विनोबाजी न तो किसी से अधिक बोलते थे, और न कहीं अधिक आते-जाते ही थे। परंतु सन् १९३२ में, धुले-जेल से छूटने के बाद, उन्होंने गीता पर व्याख्यान दिया, और इसके बाद उन्हें अनेक जगहों पर बोलना पड़ा। फिर इसके बाद प्रायः और भी चर्चाएँ हुईं, तथा वाद-विवाद हुए। इससे उन्होंने महसूस किया कि लोगों के विचार कुंठित हैं, इसलिये कुछ अधिक आने-जाने तथा बोलने की आवश्यकता है। सन् १९३३ में, वर्धा में, श्रीलक्ष्मीनारायण-मंदिर के अंतर्गत ग्रंथालय और वाचनालय का उद्घाटन करते समय उन्होंने कहा था—'धुले-जेल ने मुझमें काफ़ी परिवर्तन ला दिया है। विचार व्यक्त करने की वास्तव में आवश्यकता है। किंतु अपने विचारों को शक्ति द्वारा किसी के ऊपर लादिए नहीं। सत्य स्वयं ही प्रचारित होता है।"

विनोबाजी का जीवन प्रारंभ से ही इतना आकर्षक तथा संयत रहा है कि उसकी एक झाँकी मनुष्य को स्तंभित कर

देती है, और साथ ही उसमें एक श्रद्धा और भक्ति का भाव जाग्रत् हो जाता है। विनोबाजी के पिता श्रीनरहर पंत भावे सपरिवार गांगोद-नामक गाँव में रहते थे। उस गाँव में ब्राह्मण का घर केवल उन्हीं का था, बाक़ी सभी घर, ५०-६० के लगभग, मराठों के थे। आपका घर सारे गाँव में शिक्षित एवं सम्मान्य था। गाँव में इस परिवार को माफ़ी ज़मीन मिली हुई थी। यह गाँव प्रकृति की गोद में स्थित बड़ा ही रमणीक तथा सुरम्य है। यह एक प्राचीन ऐतिहासिक स्थल भी है। यहीं विनोबाजी का जन्म (सन् १८९४ ई० में) हुआ, और उनकी प्रारंभिक शिक्षा भी यहीं हुई। उन्होंने केवल बारह वर्ष की अवस्था में ही आजीवन ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा ली, और इसका उन्होंने केवल सैद्धांतिक रूप से ही नहीं, वरन् अत्यंत कठोरता-पूर्वक, प्रत्यक्ष रूप से पालन करना प्रारंभ कर दिया। इस निश्चय को बदलने के लिये उनके पिताजी प्राय: उन पर क्रोध करते और पीटते, किंतु उन्होंने कभी अपने इस निश्चय को भविष्य में भी छोड़ने का आश्वासन तक उन्हें नहीं दिया। एक दिन विनोबाजी की मा ने एक छोटी लड़की को गोद में लेने के लिये उनसे कहा, क्योंकि वह रो रही थी। पर विनोबाजी ने अपने ब्रह्मचर्य-व्रत की प्रतिज्ञा की दृष्टि से उसे स्पर्श करना उचित नहीं समझा, क्योंकि इससे उनके हृदय में मोह उत्पन्न हो जाने की संभावना थी, और वह नारी-जाति के प्रति अपने हृदय में किसी प्रकार का भी

आकर्षण नहीं पैदा होने देना चाहते थे। इस पर पिताजी ने उन्हें अत्यधिक क्रोध-पूर्वक खूब पीटा, किंतु वह लड़की को बिना लिए ही बाहर चले गए। ऐसे थे हमारे कठोर-निश्चयी, आदर्श सत्याग्रही श्रीविनोबाजी।

प्राथमिक शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् वह अँगरेजी पढ़ने के लिये बड़ोदा भेजे गए। वहाँ रहकर उन्होंने संत-वाङ्मय का अध्ययन शुरू किया। अध्ययन की ओर उनका झुकाव विशेष रूप से क्रमशः बढ़ता गया, और उन्होंने तत्त्वज्ञान (दर्शन-शास्त्र), इतिहास और गणित की ओर विशेष दिल-चस्पी दिखाई। उनके मानसिक जगत् पर राष्ट्रीयता का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा। अस्तु। ठीक उनकी इसी मनोभावना के अनुकूल उनका एक मित्र-मंडल भी बन गया। इस मित्र-मंडल के सदस्य श्रीबालुंजकरजी, श्रीमोघेजी, श्रीगोपालराव काले एवं श्रीधोत्रेजी को हम राष्ट्रीय प्रवृत्तियों के विभिन्न क्षेत्रों में आज भी काम करते हुए पाते हैं। यह मित्र-मंडल स्वतंत्रता के रंग में इतना अधिक रँग गया कि अपनी राष्ट्रीयता के लिये सारे विद्यार्थी-मंडल में प्रसिद्ध हो गया। विनोबाजी के इस मित्र-मंडल का एक सदस्य बड़ोदा में रहनेवाले दक्षिणी ब्राह्मण के संपन्न घर का होनहार नवयुवक था। जमीन भी उसकी वहाँ काफी थी। एक दिन वह नवयुवक घोड़े पर सवार होकर अपनी जमीन देखने गया; वहाँ उसने एक अँगरेज के नौकर को, जिसने अपना टेंट (तंबू) उसकी जमीन में लगा

रक्खा था, यह कड़ी चेतावनी दी कि "वहाँ से आज ही टेंट उखाड़कर हटा लो, वर्ना हम कल अपने हाथों से उखाड़ देंगे।" दूसरे दिन जब उक्त नवयुवक वहाँ पहुँचा, और उसने टेंट को वहीं गड़ा हुआ पाया, तब उसने अपने हाथों से उसे उखाड़ फेंका, और घोड़े पर सवार होकर विनोबाजी के पास आया, और बोला—'अरे विनू, त्या साहबाचा तंबू दिला आज फेकूँना' (अर्थात् अरे विनू, आज मैंने उस साहब का तंबू फेंक दिया।)

"नुस्ता तंबू च फेकलास वाटते, त्या साहबालाच का नाहीं फेकलेस ?" (अर्थात् क्या केवल तंबू को ही फेंका, उस साहब को नहीं फेंका ?) विनोबाजी ने कहा।

इस कार्य के फल-स्वरूप सारे शहर में हलचल मच गई, और उक्त विद्यार्थी तथा उनके साथियों पर काफ़ी टीका-टिप्पणियाँ होने लगीं। शहर में वह मित्र-मंडल अब स्वतंत्र मंडल कहा जाने लगा। विनोबाजी का जीवन इस प्रकार स्वतंत्र वातावरण में उत्तरोत्तर अधिक ऊँचा उठता गया, और वह स्वतंत्रता की देशव्यापी लड़ाई की ओर क्रमशः खिंचने लगे।

हाईस्कूल की शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् विनोबाजी को कॉलेज में प्रवेश कराया गया, परंतु यह वह समय था, जब गत जर्मन-महायुद्ध शुरू हो चुका था, और देश में स्वतंत्रता की माँग ज़ोरों से की जा रही थी। उसी समय महा-

राष्ट्र के अंदर कुछ नवयुवकों ने शस्त्रास्त्र इकट्ठे करके क्रांति द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त करने की योजना बनाई, जिसका भेद सरकार को लग गया; फलतः कुछ नवयुवक विद्यार्थियों को सरकार ने फाँसी दे डाली। इसका बड़ा ही असहनीय प्रभाव विनोबाजी पर पड़ा, और उनका हृदय अशांत हो उठा। उन्होंने यह महसूस किया कि देश मुझे पुकार रहा है, और मेरा कर्तव्य है कि मैं उसकी ओर बढ़ूँ। उस समय वह इंटरमीजिएट में थे। परीक्षा के लिये बंबई जाते समय सूरत-स्टेशन पर गाड़ी रुकी थी कि उन्होंने परीक्षा का निश्चय बदल दिया, और गाड़ी से उतरकर भुसावल जानेवाली गाड़ी पकड़ी। वहाँ से वह बंगाल के लिये चल पड़े। उन्होंने अपने पिताजी को एक पत्र में इस प्रकार की पंक्तियाँ लिख भेजीं—

"मुंबईस परीक्षे, साठी मी जात नाहीं; अन्यत्र जातो आहे, मी कोठेही गेलों व कोठ ही असलो तरी कोणती अनैतिक गोष्ठ माभया हातून होणार नाहीं ही तुह्माला खातरी आहेच।" (अर्थात् मैं बंबई परीक्षा के लिये नहीं जा रहा हूँ, कहीं अन्यत्र जा रहा हूँ। मैं कहीं भी जाऊँ, और कहीं भी रहूँ, किंतु मुझसे कोई अनैतिक कार्य नहीं हो सकेगा—इसका आपको विश्वास है ही।)

इस छोटे-से पत्र से विनोबाजी के उज्ज्वल भविष्य पर पूर्णरूपेण प्रकाश पड़ता है। उस समय उनकी उम्र केवल बाईस वर्ष की थी। वह सीधे बंगाल पहुँचे, और उन्होंने

वहाँ की क्रांतिकारी हलचलों का निरीक्षण किया, किंतु उस हलचल से उन्हें कोई संतोष नहीं हुआ। अस्तु। वह वहाँ से चलकर काशी पहुँचे। बहुत दिनों से संस्कृत के अध्ययन की जो उत्कट इच्छा उनके अंदर विद्यमान थी, वह यहाँ आकर पूरी हुई। वह यहाँ कई एक पुस्तकालयों के मेंबर हुए, और रातदिन अध्ययन में लग गए।

उन्हीं दिनों बनारस-हिंदू-विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह में डॉ० एनी बोसेंट को अध्यक्ष का पद ग्रहण करने के लिये पं० मदनमोहन मालवीय ने आमंत्रित किया था, साथ ही महात्मा गांधी को भी वहाँ उपस्थित होने का निमंत्रण भेजा था। उन दिनों महात्मा गांधी ने, श्रीगोपालकृष्ण गोखले के सुझाव के अनुसार, एक बार सारे भारतवर्ष का परिभ्रमण कर लेने के पश्चात् कार्यारंभ का निश्चय किया था। अतः उस समय वह दौरे पर थे, और मालवीयजी का यह निमंत्रण उन्हें शांति-निकेतन में मिला; वहीं से काशी के लिये उन्होंने प्रस्थान किया। विनोबाजी ने प्रथम बार गांधीजी का यहीं दर्शन किया, और दर्शन-मात्र से ही उन्होंने उनकी महत्ता, तेजस्विता और उनके दृढ़-निश्चय होने का अनुमान लगा लिया। विनोबाजी उस ओर पूर्णरूपेण आकर्षित हुए, और कुछ काल के पश्चात् उन्होंने महात्माजी को साबरमती-आश्रम में पत्र लिखा। पत्रोत्तर में महात्माजी ने उन्हें बुला भेजा। महात्माजी के संपर्क में आते ही विनोबाजी ने अपनी सारी

कहानी निश्छल भाव से उन्हें सुनाई। इस पर महात्माजी ने उन्हें यह भली भाँति समझाया कि मा-बाप से इस हद तक संबंध-विच्छेद करना अच्छा नहीं कि उन्हें अपने लड़के की कुशलता तक का समाचार न दो। उनकी कुशल जानना अपना धर्म है। अतः महात्माजी ने एक पत्र विनोबा भावे के पिता को लिखा--

"तुम्हारा लड़का मेरे पास है। इतनी छोटी अवस्था में इसने वह तेजस्विता और वैराग्य प्राप्त कर लिया है, जिसके लिये मुझे कई वर्षों तक प्रयत्न करना पड़ा है।"

विनोबाजी ने सिद्धांततः अपने शरीर को कष्ट दिया; उन्होंने न तो कभी कुर्ता पहना और न कभी जूता। कड़ी-से-कड़ी धूप में वह नंगे सिर, नंगे पैर रहे। यह उनकी इतनी कठोर साधना थी कि उसके फल-स्वरूप उनकी आँखों की ज्योति क्षीण हो गई। फिर भी वह चश्मा लगाने के लिये उद्यत न थे। किंतु गांधीजी ने उन्हें एक दिन चश्मा लाकर दिया, और उसे लगाने के लिये उन्हें बाध्य किया। प्रसंग-वश एक दिन विनोबाजी ने इस प्रकार कहा—"आश्रम के बीच जिस कमरे में मैं रहता था, उसमें बहुत-सी चींटियाँ थीं, किंतु दिखाई नहीं पड़ती थीं। अब चश्मा लगाने के बाद वे दिखाई पड़ने लगी हैं। भगवान् जाने, न देखने के कारण कितनी चींटियाँ पैरों से कुचल गई होंगी। इसी प्रकार जो ज्ञान-चक्षु से अंधा है, वह अपने हाथों

कितने अनुचित कार्य कर डालता है, इसकी कोई सीमा नहीं।"

सन् १६१६ में रौलट-बिल-विरोधी आंदोलन बड़े जोरों पर चल रहा था, और इस दुर्दमनीय बिल के पैरों तले सारा राष्ट्र कुचला जा रहा था। सरकार ने सारी राष्ट्रीय प्रवृत्तियों को कुचल देने का दृढ़ संकल्प-सा कर लिया था; उस समय विनोबाजी को इस आंदोलन को चलाने के लिये अपने गाँव गांगोद जाना पड़ा, और वहाँ उन्होंने इतना ठोस संगठन-कार्य किया कि वहाँ की जनता उनके चरण-चिह्नों पर चलने के लिये हर समय तैयार रहने लगी।

सन् १६२० में स्व० जमनालाल बजाज साबरमती-आश्रम आए, और उन्होंने महात्माजी से वर्धा में भी एक सत्याग्रह-आश्रम खोलने का आग्रह किया। महात्माजी ने भी उसकी आवश्यकता महसूस की, और वर्धा में सत्याग्रह-आश्रम चलाने के लिये विनोबाजी को आदेश दिया। विनोबाजी ने वर्धा आकर, जहाँ इस समय नालवाड़ी-आश्रम है, वहाँ सत्याग्रह-आश्रम की स्थापना की, और इसके बाद से वह वहीं रहने लगे। नागपुर के झंडा-सत्याग्रह में वह गिरफ़्तार कर लिए गए। एक दिन जेलर ने समस्त क़ैदियों को गिनती के लिये विशेष प्रकार से हाथ स्थित करके खड़े होने की आज्ञा दी, और गिनती कर लेने के पश्चात् बिना पूर्व अवस्था में आने की आज्ञा दिए ही वह चला गया। उसके जाने के बाद

अन्य सभी क़ैदी तो वहाँ से अपने-अपने बैरकों की ओर चले गए, किंतु विनोबाजी अपनी जगह पर ही खड़े रहे। जब यह पता जेलर को लगा, तो उसने आकर विनोबाजी से बैरक में जाने के लिये कहा, और उसने बड़ी विनम्रता-पूर्वक उनसे माफ़ी माँगी।

सन् १९३१ में खान-देश में समस्त सत्याग्रहियों की एक बड़ी सभा बुलाई गई, जिसके अध्यक्ष-पद पर विनोबाजी को मनोनीत किया गया। वहाँ अपने भाषण में उन्होंने भारतीय संस्कृति, धर्म और समाज के बीच राजनीतिक जागृति का जो आकर्षक चित्र खींचा, उससे हर व्यक्ति पर समान रूप से प्रभाव पड़ा। सचमुच गांधीजी के बाद विनोबाजी ही ऐसे दूसरे व्यक्ति हैं, जिनको आध्यात्मिक क्रांति द्वारा राजनीतिक सफलता प्राप्त करने और उसे स्थायित्व देने पर पूर्ण विश्वास है, और जो राजनीति में अहिंसा को व्यवहार्य मानते हैं। उनका अहिंसा पर अटल विश्वास तो है ही, साथ ही अपनी प्राचीन सभ्यता पर आधारित संस्कृति के संबंध में भी उनका यह पूर्ण विश्वास है कि 'हमें किसी की नक़ल नहीं करनी है।' वह अराजकता के अनन्य पुजारी हैं, किंतु युद्ध-जनित उपायों द्वारा नहीं, अपितु बुद्धि-जनित प्रयोगों द्वारा वह इसकी स्थापना करना चाहते हैं। यह उनकी अपनी विशेषता है, जिसके कारण उनसे सरकार बहुत घबराती थी। सन् १९३२ में, जब वह धुले-जेल में थे, श्रीअन्ना साहब दास्ताने से इस विषय पर

उनका यह परामर्श होने लगा कि खान-देश में किस प्रकार कार्य किया जाय। दास्ताने ने कहा—"सारी योजना एक काग़ज़ पर अंकित कर ली जाय।" इस पर विनोबाजी ने यह उत्तर दिया कि "कागदावार नको; तो योजना मग कागदावरच राहील।" (अर्थात काग़ज़ पर की योजना काग़ज़ पर ही रह जाती है। अस्तु। हमें आगे बढ़कर कार्य करना चाहिए।)

विनोबाजी को गीता से अत्यधिक प्रेम है, और वह इस सत्य को मानते भी हैं कि गीता ने ही उनके जीवन में इतना अधिक परिवर्तन किया। उन्होंने गीता का अनुवाद सुलभ मराठी-भाषा में 'गीताई' नाम से किया है, जो इस समय मराठी-भाषा-भाषी प्रायः सभी घरों में प्राप्य है। उनका विश्वास है कि गीता ही एक ऐसी महान् पुस्तक है, जिसको किसी भी युग में पढ़ा जा सकता और उससे सामयिक लाभ उठाया जा सकता है। उनका कहना है—"पुराने शब्दों पर नए अर्थ की क़लम बाँधना विचार-क्रांति की अहिंसक प्रक्रिया है।" वह स्वतंत्र विचारों के उच्च कोटि के परिपोषक हैं, और क्रांतिकारी भावनाओं से इतने अधिक ओत-प्रोत हैं कि हर तरफ़ क्रांति ही देखते हैं। "देहासक्ति प्रेम नहीं है, काल्पनिक परिधि पार करो, हमारी आत्मा व्यापक बनने के लिये छटपटाती है"—ये उनके स्फुट वाक्य हैं। उन्होंने वास्तव में देश को एक नया संदेश दिया है, जिसे आध्यात्मिक अराजकतावाद कहा जा सकता है।

यों तो विदेशी शासन तथा उसकी हिमायती नौकरशाही अराजकता का अर्थ 'विद्रोह' लगाती है, और इसी अर्थ का प्रचार भी करती है; किंतु अराजकता का सिद्धांत सब मानों में 'राजा विहीन राज्य' का है—जिस व्यवस्था के अंतर्गत न तो कोई राज्य है और न कोई राजा। इसके अनुसार संसार के स्वतंत्र वातावरण में प्रत्येक मनुष्य एक विस्तृत परिवार का सदस्य रहेगा, और ऐसा सदस्य, जिसके सामने स्वार्थ नाम की कोई वस्तु ही नहीं होगी, जो कभी यह नहीं कह सकता कि यह वस्तु हमारी है, और यह तुम्हारी; उसका जीवन-स्तर इतना ऊँचा उठा होगा कि वह व्यक्ति मानव-प्रेमी होकर स्वयं ही एक समाज बन जायगा, यद्यपि ये सारी बातें इस बुड्ढे भारत के लिये नवीन नहीं, किंतु वे नवीन मानी जाती हैं, और समयानुसार उनकी रूप-रेखा में काफ़ी परिवर्तन भी हो चुके हैं। अस्तु। भौतिक और पाशविक बल पर अराजकता असंभव है; विनोबाजी का यह कथन हमारे लिये एक मननीय संदेश है; वह कहते हैं—"यदि कोई लड़का दूसरों को लूटकर अपने मा-बाप को सुख देता है, या कोई देश-सेवक दूसरे देशों से विद्रोह करके स्वदेश का उत्कर्ष चाहता है, तो उन दोनों की यह भक्ति नहीं, आसक्ति है।" अहिंसक क्रांति की कितनी उन्मुक्त रूप-रेखा इन शब्दों में है। उनमें मानवता की कितनी स्पष्ट आवाज़ है, और कितना महान् है उनका यह संदेश। सच तो यह है कि आत्मोन्नति तथा नैतिक

त्थान के लिये विचारों में अहिंसक क्रांति की जो देन हमें विनोबाजी से मिली, वह शायद ही और किसी से मिली हो।

एक बार एक कलाकार विनोबाजी के पास एक सुंदर चित्र दिखाने आया। चित्र वास्तव में सुंदर था। किंतु विनोबाजी ने उसकी प्रशंसा के स्थान पर यह उत्तर दिया—"मेरे साथ आइए, मैं आपको अपनी कला-उपासना दिखलाऊँ।" कलाकार को साथ लिए हुए वह हरिजन-बस्ती में पहुँचे। वहाँ पहुँचकर कलाकार तो नाक-भौं सिकोड़ने लगा; किंतु विनोबाजी ने उसी के बीच में खड़े होकर कहा—"यह है हमारा कला-भवन।" उस बस्ती के कृशकाय हरिजनों के बच्चों की ओर संबोधन करके उन्होंने कहा—"इनके चेहरे पर सुर्खी लाने की आवश्यकता है। आप इस चित्र को बेचकर जो रुपया प्राप्त करें, वह इन जीते-जागते चित्रों के गालों पर लाली भरने में व्यय करें। यही हमारी-आपकी सच्ची कलोपासना है।"

"अहिंसा, सत्य, अस्तेय,
ब्रह्मचर्य असंग्रह
शरीरश्रम अ-स्वाद,
सर्वत्र भय-वर्जन।
सर्वधर्मी - समानत्व,
स्वदेशी, स्पर्शभावना-
ही एकादश सेवावी,
नम्रत्वें व्रत निश्चयें।"

इस आदर्श श्लोक के रचयिता विनोबाजी ही हैं। यह श्लोक गांधीजी की प्रार्थना का मुख्य अंश था। विनोबाजी उच्च कोटि के तत्त्वदर्शी हैं। उनके एक-एक शब्द सार-गर्भित तथा महत्त्व के होते हैं। विनोबाजी जब संध्या-समय अपने पौनार-आश्रम से टहलने निकलते हैं, तो उनके साथ चलने-वाले लोग इस प्रकार उनकी एक-एक बातों की ओर कान लगाए रहते हैं कि उनका एक शब्द भी निरर्थक न जा सके। विनोबाजी कई भाषाओं के गंभीर विद्वान् हैं, जिनमें हिंदी, मराठी, संस्कृत, फ्रेंच, लेटिन और अँगरेजी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

भारतवर्ष को अपने इस महान् पुत्र पर अत्यधिक गर्व है, और वह विश्वास करता है कि ऐसे महापुरुष की छत्रच्छाया और मार्ग-दर्शन से अपना उज्ज्वल भविष्य निर्माण कर सकेगा। हम अराजक विश्व के इस श्रेष्ठ स्वप्नद्रष्टा एवं प्रथम सत्याग्रही ऋषि को अत्यंत श्रद्धा-पूर्वक प्रणाम करते और भगवान् से करबद्ध प्रार्थना करते हैं कि वह इस विश्वात्मा को अजर-अमर एवं अक्षय-अनंत आयु प्रदान करे।

कुमारप्पा-बंधु

"भारत अपने गाँवों में बसा है, शहरों में नहीं।" यह वाक्य विश्व-वंद्य महात्मा गांधी का है, जो एक छोटे-से ५० झोपड़ोंवाले गाँव सेवाग्राम में निवास करते थे, और अपने विभिन्न प्रयोगों द्वारा—गाँव का उत्थान कैसे हो, इस बारे में—समय-समय पर हमारे लिये आदेश देते रहते थे। उनका यह अटल विश्वास था कि जब तक गाँवों का उत्थान न होगा, तब तक मिली हुई स्वतंत्रता भी स्थायी नहीं रह सकती। विशेषतया गाँवों की आर्थिक उन्नति जनता के स्वावलंबी तथा उद्योग-प्रिय होने पर ही हो सकती है। अखिल भारत-चरखा-संघ की स्थापना के बाद ही ग्राम-उद्योगों को प्रोत्साहन देने की आवश्यकता महसूस की गई।

जिस समय इस महत्कार्य का भार श्रीजे० सी० कुमारप्पा ने अपने कंधों पर लिया, उस समय से ही सार्वजनिक जीवन में आपका प्रवेश होता है—ऐसी बात नहीं, बल्कि इसके बहुत पहले से ही आप अपनी सेवाएँ देश को अर्पित कर रहे थे। आप स्वयं तो इस कार्य में लगे ही, साथ-साथ अपने छोटे भाई श्रीभारतन् कुमारप्पा को भी इससे अलग न रहने दिया। प्रारंभ से अब तक दोनो भाई समान गति से ग्राम-उद्योग के

कार्य में लगे हैं, और आमरण लगे रहेंगे, ऐसा विश्वास है। बहुत कम लोग ऐसे होंगे, जो इन कुमारप्पा-बंधुओं की प्रतिभा से पूर्ण परिचित हों, क्योंकि ये आत्मप्रचार से सदैव दूर रहे हैं।

श्रीजे० सी० कुमारप्पा का जन्म ४ जनवरी, सन् १८९२ ई० को, तंजौर के एक भारतीय ईसाई-परिवार में, हुआ था। आपके पिता उच्च श्रेणी के व्यक्तियों में से थे। अस्तु, उन्होंने आप लोगों को पढ़ाने की व्यवस्था भी उच्च कोटि की ही रक्खी।

आपका आमोदमय बचपन मद्रास में बीता, और यहीं आपने 'डोवेटन कॉलेज' में शिक्षा भी पाई। आपका कॉलेज का जीवन बड़ा ही गौरव-पूर्ण था। आप सारे कॉलेज में अपनी कुशाग्र बुद्धि तथा गणित में विशेष दिलचस्पी के कारण प्रसिद्ध थे। जितना आनंद आपको पढ़ने-लिखने में आता था, उतना ही खेल में भी। अन्य खेलों की बनिस्बत आपको क्रिकेट से कुछ अधिक प्रेम था।

आपकी प्रखर बुद्धि देखते हुए आपके पिता ने आपको विदेश में शिक्षा दिलाने का निश्चय किया, और 'सिरेक्युस-युनिवर्सिटी' (अमेरिका) में प्रवेश कराया। वहाँ आपने बी० एस्०-सी० की डिग्री प्राप्त की। इसके पश्चात् आप 'कोलंबिया-युनिवर्सिटी' में एम्० ए० के लिये अध्ययन करने लगे। वहाँ भी अपने परिश्रम तथा बुद्धिमत्ता के कारण अच्छी सफलता पाई। आपका साहस और झुकाव आगे की ओर

बढ़ता ही गया। अतः आपने एकाउंटेंसी (हिसाब-किताब) में विशेषता प्राप्त करने के लिये लंदन जाना उचित समझा। लंदन से आपने एफ़० एस० ए० ए० की डिग्री प्राप्त की, और फिर आप अपने 'अंतरराष्ट्रीय व्यापार' पर लिखे गए लेखों के कारण 'इन्कार्पोरेटेड एकाउंटेंट' घोषित किए गए। अतः अब आपने 'पब्लिक एकाउंटेंट' के रूप में लंदन में रहकर ही प्रैक्टिस प्रारंभ की, और सन् १९१९ तक लगातार प्रैक्टिस करते रहे। विदेश में अधिक दिन रहने के पश्चात् आपने भारत में आकर ही प्रैक्टिस करने का निश्चय किया, और बंबई में कार्यारंभ कर दिया। बंबई में आपको कई बार स्व० जमनालाल बजाज के संपर्क में आने का अवसर प्राप्त हुआ। स्व० बजाज से मिलकर आपकी अभिरुचि जन-सेवा की ओर झुकती-सी जान पड़ी। इन्हीं दिनों, अर्थात् सन् १९२९ में, महात्मा गांधी का विचार आंदोलन आरंभ करने का हुआ, जिसकी प्रखर भावना में सारा देश ही बहा जा रहा था। जिधर देखिए, जोश की एक लहर उमड़ रही थी। फिर भला, कुमारप्पाजी अपने को क्योंकर रोक सकते? ज्यों ही बापू का आगमन बंबई में हुआ, आप उनसे जा मिले, और अपनी सेवाएँ अर्पित करने का निश्चय बापू के सामने कह सुनाया। बापू यह भली भाँति जानते थे कि किस मनुष्य का उपयोग कैसे और कहाँ करना चाहिए। वह कुमारप्पा-जैसे योग्य और होनहार व्यक्ति को कब अपने से अलग रखना सोच सकते

थे ? उन्होंने आपके उपयुक्त ही 'गुजरात-विद्यापीठ' में अर्थ-शास्त्र के प्रोफ़ेसर की जगह पर आपकी नियुक्ति कर दी। यह कार्य जितना ही आपके अनुकूल था, उतना ही परीक्षा में खरे उतरने के लिये दुरूह भी। किंतु मनुष्य जब किसी भी निश्चय को अपने जीवन में उतार लेता है, तो वह फिर कोई कठिन नहीं रह जाता। अस्तु, आपने पूज्य बापू का आदेश प्राप्त कर 'मातार तालुका' के ५० गाँवों की आर्थिक जाँच की, और उस जाँच को 'सर्वे ऑफ़् मातार तालुका' के नाम से, एक पुस्तक के रूप में, प्रकाशित कराया। इसी दौरान में आप 'यंग इंडिया' का संपादन भी करते रहे। किंतु सन् १९३० के आंदोलन के फल-स्वरूप आपको यह कार्य छोड़ना पड़ा, और साल-भर के लिये जेल की रोटियों का स्वाद भी चखने का सुअवसर मिला।

जेल से बाहर आने पर आप 'कांग्रेस-सेलेक्ट-कमेटी' के प्रचारक मनोनीत किए गए। आपने प्रचारक का कार्य बड़े ही उत्तरदायित्व-पूर्ण ढंग से किया। उक्त कमेटी का संगठन ब्रिटेन और भारत के बीच के आर्थिक कर्तव्यों की जाँच के लिये हुआ था। सन् १९३१ के अंत में आपने पुनः यंग इंडिया' के संपादन का कार्य सँभाला। किंतु सन् १९३२ में ही दुबारा जेल-यात्रा करनी पड़ी। इस यात्रा में भी आपने पूरे एक साल का समय लिया। इसके पश्चात् अभी कुछ ही दिन आपको जेल के बाहर निकले हुए थे कि देश को

बिहार के विनाशकारी भूकंप से त्रस्त होना पड़ा। बिहार की जो शोचनीय दशा हो गई थी, उससे प्रत्येक राष्ट्र-सेवी नेता का ध्यान अन्य कार्यों को छोड़कर एक ही ओर जा लगा। 'बिहार-रिलीफ़-कमेटी' के नाम से एक व्यापक संस्था आयोजित हुई, जिसकी मैनेजिंग कमेटी (व्यवस्था-समिति) में श्रीकुमारप्पा भी रक्खे गए। आप इस महत् कार्य में तब तक लगे रहे, जब तक बंबई में हुए कांग्रेस के महाधिवेशन ने ग्रामोद्योग-संघ के संगठन के लिये आपको आमंत्रित नहीं किया। आपको केवल संगठन का ही कार्य नहीं, बल्कि मंत्रिपद देकर उसके समुचित संचालन का भार भी सौंपा गया। इस क्षेत्र में आपने किस लगन और तपस्या से कार्य किया—इसका एकमात्र अनुमान एक बार 'अखिलभारतीय ग्रामोद्योग-संघ-वर्धा' के विस्तृत कार्यों का निरीक्षण करके ही किया जा सकता है।

आपने कई महत्त्व-पूर्ण पुस्तकें भी लिखी हैं, जिनमें से (१) मातार तालुका की पैमाइश (सर्वे), (२) भारतीय राजस्व और हमारी दरिद्रता, (३) ग्राम-आंदोलन की आवश्यकता, (४) स्त्रियाँ और ग्राम-उद्योग, (५) रिलीफ़ वर्क का संगठन और उसका हिसाब, (६) ईसा का धर्म आदि पठनीय एवं आदरणीय हैं। इसके अतिरिक्त समय-समय पर अधिकांश लेख शिक्षा, राजनीति एवं रचनात्मक कार्यों के संबंध में निकलते रहते हैं। आपका

प्रत्येक लेख आपके गहरे अध्ययन और अनुभव का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, आप अकेले ही देश की पुकार पर न दौड़े, बल्कि साथ-साथ आपके छोटे भाई श्रीभारतन् कुमारप्पा ने भी ठीक आपके पद-चिह्नों पर चलकर आपका साथ दिया।

श्रीभारतन् कुमारप्पा अपने बड़े भाई से लगभग चार या पाँच साल छोटे हैं। आपका बचपन मद्रास में साथ-ही-साथ बीता। आप लड़कपन से ही मौन विचारक की भाँति एकांत-प्रिय थे। आगे चलकर अपने स्वभावानुकूल ही आपका प्रिय विषय दर्शन-शास्त्र हुआ। आपने मद्रास-युनिवर्सिटी से एम्० ए० ऑनर्स (सम्मान-पूर्ण) तथा हार्टफोर्ड (संयुक्त राष्ट्र अमेरिका) से बी० डी० की उपाधियाँ प्राप्त की हैं। आपने योरपीय तथा भारतीय दर्शन पर काफ़ी खोजें की हैं, और पुस्तकें लिखी हैं, जिसके फल-स्वरूप आपको एडिनबरा और लंदन दोनों युनिवर्सिटियों से डॉक्टरेट की उपाधियाँ प्राप्त हुईं। इसके पश्चात् भारत लौटकर आप क्रमशः 'मद्रास-क्रिश्चियन कॉलेज', 'बिशाप कॉलेज, नागपुर' और 'थियोसोफ़िकल कॉलेज, मिदनापल्ल'में दर्शन-शास्त्र के प्रोफ़ेसर रहे। किंतु देश में, जब कि साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक ज़बरदस्त युद्ध छिड़ा हुआ था, आपको इस प्रकार प्रोफ़ेसर बनकर रहने में आनंद का अनुभव न हुआ। आपने केवल प्रोफ़ेसरी से अलग होकर ही संतोष न

किया, अपितु सन् १९३२ के सविनय-अवज्ञा-आंदोलन में भी सक्रिय भाग लिया, और पूरे डेढ़ साल के लिये कारावास की यातनाओं का सहर्ष स्वागत किया।

जेल से छूट आने के पश्चात् आपको पुनः प्रोफ़ेसर की जगह पर काम करने के लिये आमंत्रित किया गया, किंतु आपने अपने मस्तिष्क में उस ओर जाने का विचार तक न आने दिया। और, जब अखिलभारतीय ग्रामोद्योग-संघ की स्थापना हो चुकी, तो आपने उसके लिये अपनी सेवाएँ अर्पित करने का विचार प्रकट किया। अतः आपको संघ का उप-मंत्री नियुक्त किया गया, और आप बड़ी तत्परता के साथ अपने बड़े भाई को सहयोग देने लगे। सन् १९३५ तक लगातार काम करते रहने के बाद आप मंत्रिपद से अलग हो गए, किंतु संघ की सेवा अब भी आप निर्बाध गति से कर रहे हैं, तथा संघ के व्यवस्थापक मंडल के स्थायी सदस्य हैं।

आपने अन्य विषयों पर भी कई पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें से (१) देववाद के हिंदू-सिद्धांत का विकास रामानुज के समय तक, (२) ग्राम्य जीवन तथा (३) ग्रामोद्योग और पुनःसंगठन आदि का अपना विशेष स्थान है। आपकी पहली पुस्तक तो बड़ी ही खोज-पूर्ण तथा विद्वान् लेखक की अमर देन है। इसके अतिरिक्त आपने शिक्षा, धर्म, दर्शन, समाज एवं ग्रामोद्योग आदि विषयों पर बहुत-से उपयोगी लेख लिखे हैं, जिनसे

नवीनतम विचारों तथा उनकी आवश्यकताओं पर पूरा-पूरा प्रकाश पड़ता है।

कुमारप्पा-बंधुओं से ग्रामोद्योग-क्षेत्र बड़ी-बड़ी आशाएँ करता है। यद्यपि वे अभी भविष्य के गर्भ में हैं, फिर भी उनकी बानगी तो हमारे सामने उपस्थित ही है, जिनमें से कुछ को तो हमने अपनाया, किंतु कुछ को इच्छा के विरुद्ध न अपना सके, यह हमारी कमजोरी है।

श्रीपरचुरे शास्त्री

कई वर्ष की बात है। जाड़े के दिन थे। बापू ठीक सवा आठ बजे टहलने के लिये अपनी कुटिया से निकल चुके थे। इसी समय मेरे एक मित्र ने आकर मुझसे टहलने चलने का अनुरोध किया। अस्तु, मैं भी बापू के पीछे-पीछे हो लिया। सड़क से होते हुए, आश्रम से क़रीब ४ फ़र्लांग की दूरी पर, एक ८-१० फ़ीट ऊँची पहाड़ी के निकट तक जाकर बापू लौट पड़े। आश्रम में प्रवेश करके वह अपनी कुटी की ओर न जाकर वहाँ के मेहमान-गृह 'रुस्तम-भवन' की ओर मुड़े। हम लोग भी साथ ही थे। कुष्ठ-रोगी श्रीपरचुरे शास्त्री की झोपड़ी में पहुँचकर हम सभी रुक गए। वहाँ उन्होंने काफ़ी देर तक उनसे बातें कीं, और कुछ आश्रम के ज़िम्मेदार व्यक्तियों से उनके रहने-सहने, खाने-पीने आदि के संबंध में कहा भी।

मैं अभी कुछ दिनों से ही आश्रम-परिवार के एक सदस्य के रूप में रह रहा था, इसलिये शास्त्रीजी के बारे में मेरी विशेष जानकारी न थी। उस दिन का यह दृश्य देखकर मैं उस झ पड़ी की ओर अधिक आकर्षित हुआ, और तब से प्रायः उधर जाता और कुछ क्षण के लिये शास्त्रीजी के पास बैठता। इस प्रकार प्रतिदिन उनसे कुछ-न-कुछ नई जानकारी

होती। एक दिन बापू के संबंध में उनके सदाचार की बातें चल रही थीं। उसी सिलसिले में शास्त्रीजी ने बताया कि बापू प्रायः स्त्रियों के कंधे पर हाथ रखकर चलते हैं। यह उनका एक प्रयोग है, जो अब जाकर सफल हुआ है। आज से कुछ दिनों पहले बापू आए, और मुझसे कहने लगे—"अब मुझे पता नहीं चलता कि मैं किसी स्त्री के कंधे पर हाथ रखकर चल रहा हूँ, या किसी पुरुष के कंधे पर।"

शास्त्रीजी संस्कृत के प्रकांड विद्वान् तथा वेदों के पूर्ण ज्ञाता थे। उन्होंने बापू का जितना गहन अध्ययन आध्यात्मिक दृष्टिकोण से किया था, उतना ही भौतिक दृष्टिकोण से भी। वह बापू की क्रियाशीलता से इतना अधिक प्रेम करते थे कि कोई भी व्यक्ति उनके संपर्क में आकर यह सहज ही समझ जाता था कि उन्हें अपने उस घातक रोग की उतनी चिंता नहीं रहती थी, जितनी बापू की। बापू ही उनके सर्वस्व थे, इसमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं।

दूसरी ओर शास्त्रीजी का जितना मूल्य गांधीजी ने आँका, उतना किसी ने नहीं। पौराणिक शब्दों में उन्हें शंकर कह लें, तो अनुचित न होगा।

यह तो सभी जानते हैं कि गांधीजी जब भी कोई नया कार्य प्रारंभ करते थे, तो उसमें उनकी आत्मा की विशुद्ध प्रेरणा होती थी। किंतु किसी को यह ज्ञान नहीं कि उस प्रेरणा में शास्त्रीजी तथा विनोबा भावे की भी आंतरिक अनुमति छिपी

होती थी। राजनीति में आध्यात्मिक तथा नैतिक बल की ज़रूरत बापू बहुत पहले से अनुभव करते रहे, पर उस बल की महत्ता का ज्ञान उन्हें शास्त्रीजी से ही प्राप्त हुआ। "भारतीय राजनीति अपने नैतिक बल पर ही अधिक सफल हो सकती है।" ये शब्द शास्त्रीजी के हैं। उनके विचार क्या थे, मानो पुरातन में नूतन का सामंजस्य थे। उनमें राष्ट्रीयता की गहरी छाप और दलितों की पुकार थी।

शास्त्रीजी का जन्म सन् १८८७ में, बंबई-प्रांत के अंतर्गत ज़िला सितारा, ग्राम सोनी में, हुआ था। उनके पिता घर के विशेष संपन्न तो नहीं थे, फिर भी खाने-पीने की कोई तक-लीफ़ न थी। उनकी शिक्षा सांगली-ज़िले में मैट्रिक तक हुई थी। वह उच्च महाराष्ट्रीय कुल के थे।

सन् १९०५ में जब लोकमान्य तिलक का स्वदेशी आंदोलन सारे देश में एक रूप से चला, तो शास्त्रीजी भी उससे अलग न रह सके। आंदोलन के बाद ही वह वेदाध्ययन के लिये घर छोड़कर बाहर चले गए। उन्होंने लगातार आठ वर्षों तक भिक्षा माँगकर वेदाध्ययन किया। इस कठोर साधना के पश्चात् भी उनकी ज्ञान-पिपासा जब तृप्त न हुई, तो फिर उन्होंने विभिन्न संस्कृत-ग्रंथों का स्वयं अध्ययन और मनन प्रारंभ किया। उनकी अभिरुचि धर्म-शास्त्रों की ओर अधिक थी, इस-लिये उन्होंने बड़े मनोयोग से उनका गंभीर अध्ययन किया, और उनकी नवीन दृष्टिकोण से व्याख्या की। उनका विचार

था कि देश और समाज से दूर रहकर कोई धर्म धर्म नहीं रह सकता। इसीलिये लोकमान्य तिलक के व्याख्यानों तथा लेखों से वह पूर्ण प्रभावित हुए। उन्हीं दिनों उन्होंने महाराष्ट्र के प्रसिद्ध तीर्थों के दर्शन किए, तथा पांडेचेरी, मदुरा, कांची और कुंभकोणम आदि दक्षिण-भारत के तीर्थों का पैदल ही भ्रमण किया।

उनका विवाह सोलह वर्ष की छोटी अवस्था में ही हो चुका था। किंतु व्यवस्थित गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करने की ओर वह कभी प्रवृत्त न हुए। जब तक वह परिवार के साथ थे, ग्राम-उद्योग और पैसा-फंड का कार्य करते रहे, यद्यपि कुटुंबियों तथा गाँववालों ने उनका काफ़ी विरोध किया। अंत को वह अपनी जन्मभूमि छोड़कर सन् १६१६ में पत्नी के साथ 'वाई' तालुका में आकर रहने लगे। यहीं रहकर उन्होंने मुंशीपेटा-आंदोलन में भाग लिया, जिसके फल-स्वरूप वह तीन बार जेल गए। जेल में उन्होंने राजनीतिक पुस्तकों का अध्ययन किया। धीरे-धीरे उनका झुकाव रचनात्मक कार्यों की ओर भी हुआ, और उन्होंने सन् १६२३ से १६२६ तक 'चिंचवड़-' राष्ट्रीय पाठशाला में अध्यापक तथा व्यवस्थापक की हैसियत से कार्य किया। पाठशाला के समस्त विद्यार्थियों के पढ़ने-लिखने और खाने-पीने की ज़िम्मेदारी उन्होंने स्वयं अपने ऊपर ली। इसी दौरान में उन्होंने खेती की उन्नति और पैदावार बढ़ाने के शोध के लिये कृषि-अनुसंधान का कार्य भी किया।

सितारा-ज़िले के २८० गाँवों को पैदल ही घूमकर उन्होंने वहाँ के किसानों की आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक स्थिति की जाँच की, और तब अपनी एक पुस्तक सरल मराठी-भाषा में 'खेड़ाची-यात्रा' अर्थात् 'गाँवों की यात्रा'-नामक लिखी। यह महत्त्व-पूर्ण कार्य उन्होंने सन् १६२६-३० में किया था। उसी समय उन पर कुष्ठ-रोग-जैसी भयंकर छूत की बीमारी का क्रमशः आक्रमण हुआ, किंतु उन्होंने अपने कार्य में किसी प्रकार की शिथिलता नहीं आने दी। उन्होंने अपने शरीर की तनिक भी परवा न की, और तब, जब एक डॉक्टर ने एक सभा के मध्य उन्हें कुष्ठ-रोग की बात बताई, तो गाँवों का यह कार्य उन्होंने बंद कर दिया। ठीक इसके बाद ही दो बार उन्होंने जेल-यात्रा की। इस बार जेल में वह गांधीजी के अधिक निकट संपर्क में आए। वैसे तो पहले भी उनका परिचय उनसे हो चुका था।

पूज्य बापूजी ने जब हरिजनों के मसले पर उपवास किया था, तो शास्त्रीजी ने भी पूना में ही रहकर एक सप्ताह का उपवास किया। उपवास द्वारा आत्मशुद्धि और आत्मोन्नति पर उनका दृढ़ विश्वास था। वह इन्हीं दिनों कुछ समय के लिये, बापू के आदेशानुसार, साबरमती जाकर रहे थे। सन् १६३४-३५ में उन्होंने उत्तर-भारत के प्रमुख स्थानों की यात्रा की, और फिर सितारा वापस आकर चार वर्षों तक वह लगातार जंगल में रहे। एकांतवास तथा न्यूनतम आवश्यकताएँ उन्हें अत्यधिक प्रिय थीं।

सन् १९३९ में उन्होंने अपने रोग के उपचार के रूप में ११ दिनों का जल-रहित उपवास किया, और न-जाने कितनी दवाइयाँ कीं, किंतु रोग क्रमशः बढ़ता ही गया, और तब वह गंगा-सेवन के लिये हरिद्वार चले गए। वहाँ कुछ महीने रह-कर ऑक्टोबर, सन् ३९ में वह सेवाग्राम आए। शास्त्रीजी के मिलने पर बापू ने कहा—"जब मैं रोगियों को यहाँ रखता ही हूँ, तब आपको क्यों नहीं रक्खूँगा ?" इसके बाद ही बापू ने उन्हें रहने के कुछ फ़ासले पर एक साफ़-सुथरा झोपड़ा तैयार करवा दिया, और बार-बार उनकी देख-रेख में तत्पर रहने लगे; इसके साथ ही आश्रम के कई श्रद्धालु सेवकों को भी उनकी सेवा में नियुक्त कर दिया।

शरीर की क्षीणता या दुर्बलता मनुष्य की शक्तिशाली आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं ला सकती। शास्त्रीजी यद्यपि अत्यंत कृशकाय तथा रोगी थे, फिर भी उनकी आत्मा इतनी प्रबल थी कि वह सदैव पठन-पाठन तथा चरखा कातने में संलग्न रहते थे। उनमें आत्मविश्वास की भावना बड़ी प्रबल थी। उनके प्रत्येक शब्द में ओज का आभास मिलता था। वह इस अवस्था में भी बड़ी वीरता के साथ अन्याय का अहिंसक मुक़ाबला करने के लिये कटिबद्ध रहते थे।

वह अत्यधिक संयमशील थे। उन्होंने अपने रोग में भी काफ़ी संयम से काम लिया। क्रमशः पपीता, संतरा, अंगूर, नारियल, दूध, केला, उबली भाजी, कच्चे सागों और रसों पर

ही रहकर उन्होंने प्रयोग किया, किंतु रोग को कोई विशेष लाभ न हुआ। यहाँ तक कि नीम की पत्तियों की चटनी १० तोले से लेकर क्रमशः ३०-३० तोले तक उन्होंने प्रतिदिन खाई। अंत में जब उनका रोग अधिक बढ़ गया, तो ७ दिनों का निर्जल उपवास किया। उपवास में रोग का बढ़ना बंद होने के साथ-ही-साथ उन्हें कुछ आराम भी मिला।

बापू ने उनकी सेवा जिस प्राण-पण से की, उस संबंध में उनका कहना है—'मेरे-जैसे त्याज्य रोगी की सेवा जिस प्रेम और मातृत्व भावना से बापू ने की, वैसी सेवा शायद मेरी मा भी नहीं कर सकती थी। बापू जितने दिनों तक आश्रम में रहते हैं, बिना नागा मेरे पास आते हैं। वास्तव में अब तक मैं बापू के प्रेम से ही जीवित हूँ। मेरी अंतिम अभिलाषा है कि बापू के चरणों में ही प्राण त्याग करूँ, और यहीं मेरी मिट्टी सुधर जाय।"

ऐसे जिज्ञासु, मेधावी, विद्वान् तथा साधक के संबंध में जन-साधारण बहुत ही कम जानते हैं। वह आत्मप्रचार बिल-कुल पसंद नहीं करते। फिर भी महाराष्ट्र-प्रांत तथा भारत के विज्ञ जनों में वह आदर के साथ याद किए जाते हैं। उन्होंने अपनी रुग्णावस्था के पहले जो कार्य किया, वह नितांत ठोस तथा भारत के पद-दलितों की पुकार से प्रेरित होकर सच्ची सेवा के रूप में ही किया था। लीडरी की उपासना के लिये वह छोटे से लेकर बड़े-से-बड़े कार्य तक को पाप समझते

थे। अब भी उनकी बौद्धिक सेवाएँ देश को स्फुट संदेशों के रूप में प्राप्य हैं, किंतु खेद है, वह आज हमारे साथ नहीं हैं! वह सचमुच ही बापू के चरणों में अमरता को प्राप्त हो चुके हैं।

श्रीकेशव भाई

बापू के आश्रम में जो स्थान एक भारतीय के लिये है, वही एक विदेशी के लिये भी। विदेशियों से न तो बापू कभी घृणा करते, और न उनकी विशेष रूप से पूजा ही। अभिप्राय यह कि मानवता के सच्चे पुजारी होने के नाते उनका मधुर व्यवहार सभी के साथ समान तथा एक-सा रहता। यही कारण है कि सेवा-ग्राम-आश्रम में रहकर सभी व्यक्ति अपने को गांधी-परिवार का एक सदस्य समझते, और अपने उस पारिवारिक जीवन पर गर्व करते। यहाँ उसी परिवार के एक ऐसे सदस्य का परिचय देना है, जिसने विदेशी होते हुए भी अपने को उस वातावरण में इतना अधिक मिला दिया था कि उसे अपने विदेशी नाम तक से घृणा-सी हो गई थी। यहाँ तक कि उसने किसी के लाख पूछने पर भी अपना भारतीय नाम ही बताया, विदेशी नहीं। उस विदेशी को सभी लोग 'केशव भाई' के नाम से जानते हैं। वह एक जापानी बौद्ध-भिक्षु हैं।

तृतीय महायुद्ध के समय केशव भाई ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा निर्मित किसी भारतीय कारागार में पूरे समय तक रक्खे गए थे। जापानी होने के नाते ब्रिटिश सरकार ने इन्हें खतरनाक आदमी समझा था। उसने यह नहीं समझा कि

केशव भाई जापानी नहीं, बल्कि सांसारिक जाति-भेद से परे एक मानव हैं, एक साधक हैं। गांधीजी इस चीज़ को अच्छी तरह जानते थे; पर भला, ब्रिटिश सरकार गांधीजी की बात क्यों मानती? ८ दिसंबर, १९४१ ई० की रात को केशव भाई ने बिदाई ली। यह वही रात थी, जिस दिन सबेरे ही सारी दुनिया में यह समाचार हवा की प्रत्येक लहर में गूँज उठा था कि 'जापान ने मित्रों के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी है।' इस घोषणा के फल-स्वरूप सेवाग्राम भी अछूता न बच सका। वहाँ जो प्रतिक्रिया हुई, वह आज की एक कहानी-मात्र रह गई है।

आश्रम की सायंकालीन प्रार्थना समाप्त हो चुकी थी। सभी लोग अपने-अपने कमरे की ओर जा रहे थे। इतने ही में एक ताँगे पर वर्धा से सब-इंसपेक्टर पुलिस मय सिपाहियों के आ पहुँचे। अपने आने की सूचना उन्होंने पहले ही तीन बजे के लगभग दे दी थी। किंतु यह समाचार अन्य किसी को ज्ञात न था। हाँ, इतना अवश्य जाना जा सका था कि सबेरे से ही आश्रम के चारों ओर घूमनेवाली खुफ़िया पुलिस की केशव भाई पर कड़ी निगरानी है, ताकि वह कहीं ग़ायब न हो जायँ। किंतु उन मूर्खों ने कभी यह न सोचा कि क्या सेवा-ग्राम का साधक भी कभी फ़रार हो सकता है? केशव भाई को उनकी गिरफ़्तारी की सूचना बापू ने पहले ही करा दी थी कि वर्धा से पुलिस आ रही है। अस्तु, वह तैयार ही बैठे थे।

पुलिस के आने पर उनकी सारी सामग्री जब्त कर ली गई, और उसकी लिस्ट बनाकर आश्रम-अधिकारी को दे दी गई। केशव भाई के पास वर्तुलाकार (क्रिकेट के बैट से मिलती-जुलती) तीन डफलियाँ थीं, जिन्हें वह दिन में बजाया करते थे। उनमें से एक तो उन्होंने कनूभाई गांधी को दे दी, और शेष दोनो को लिए हुए बापू के पास पहुँचे। उस समय बापू राजकुमारी अमृतकौर तथा अन्य व्यक्तियों के साथ बातें कर रहे थे। केशव भाई के पहुँचते ही बापू मुस्करा पड़े, और वातावरण शांत हो गया। केशव भाई ठीक बापू के सामने बैठ गए, और आँखें मूँद लीं, जैसे अपने इष्ट देव की आराधना कर रहे हों। कुछ मिनटों के बाद उन्होंने आँखें खोलीं, और 'अमुभ्यो हो रे ये को' सूत्र को तीन बार दुहराया। इसके पश्चात् ही उन्होंने उन दो वर्तुलाकार डफलियों में से एक बापू के चरणों में समर्पित की। इस पर बापूजी ने गंभीर शब्दों में कहा—"यह तो बजेगा ही, और मंत्र का भी जाप होगा।"

केशव भाई कुछ बोले नहीं। उनकी आँखें जिस तरह बापू पर जमी थीं, जमी ही रह गईं, मानो वह अपने को खो बैठे हों। बापू की कुटी के मुख्य द्वार तथा खिड़कियों पर सारे आश्रम-वासियों की जबर्दस्त भीड़ थी, किंतु सभी इस तरह मौन भाव से खड़े थे कि जान नहीं पड़ता था कि यहाँ बापू और केशव भाई के अतिरिक्त और भी कोई है। बापू ने

शांति-भंग करते हुए पुनः कहा—"ये तुम्हें जहाँ भी ले जायँ, आनंद से रहो।" इतने में किसी ने देवलाली-जेल का नाम लिया, और वहीं भेजे जाने के संबंध में कहा। इस पर प्रसन्न होते हुए बापू ने कहा—"वहाँ तो बहुत ही अच्छा है। हाँ, अगर जापान जाने को कहें, तो यहीं जेल में रहना पसंद करना, जापान मत जाना। यदि पत्र भेजने की इजाजत मिले, तो पत्र भेजना।"

"बहुत अच्छा।" कहकर केशव भाई ने सिर नवाया। उनके साथ ही सभी उपस्थित सज्जनों ने, जो बापू के निकट बैठे थे, मस्तक नवाया। यह दृश्य वास्तव में पारिवारिक बिछोह का कारुणिक दृश्य था। उसी समय बापू ने कस्तूर बा को माला पहनाने का आदेश दिया। बा ने शीघ्र ही अपने हाथ का कता सूत लाकर उसे रोली से कुछ-कुछ रँगकर केशव भाई के गले में पहनाया, और माथे पर रोली लगाई। माता का हृदय था उन्होंने कहा—'भाई, जहाँ भी रहो, आनंद से रहो।"

केशव भाई बापू की कुटिया से चलकर प्रार्थना-भूमि के उस मैदान में आए, जहाँ उनको ले जाने के लिये ताँगा खड़ा था। वहीं कुछ छोटे-छोटे लड़के भी अजीब मुख-मुद्रा से खड़े थे। वे आपस में एक दूसरे से कह रहे थे—"आज केशव भाई जा रहे हैं।" उन सभी पर उदासी का साम्राज्य था। वे ऐसा महसूस कर रहे थे कि उनके केशव भाई, जिनके साथ वे सब अत्यंत चाव से हिल-मिलकर खेला करते थे, न-जाने

कहाँ जा रहे हैं, और शायद अब न आवें। लड़कों ने भाई से प्रश्न किया—"केशव भाई ! कब आओगे ?"

केशव भाई ने बड़े ही प्यार और ममता के शब्दों में उत्तर दिया—"शीघ्र ही आऊँगा।" और ताँगे के पास खड़े होकर एक बार सभी की ओर देखा। सारे आश्रम-वासियों ने कथित मंत्र को पुनः दुहराया। ताँगे पर बैठते-बैठते उन्होंने फिर से एक बार विस्तृत आश्रम पर अपनी दृष्टि डाली, और तभी ताँगा वर्धा जानेवाली सड़क पर आगे को बढ़ चला। जो लोग उन्हें घेरे खड़े थे, सभी को उन्होंने हाथ जोड़कर नमस्ते किया।

उन दिनों सेवाग्राम-आश्रम के शांत वातावरण में रह-रहकर किसी की डफली की डम-डम आवाज हमारा ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया करती थी, जो लहलहाते हुए आश्रम के खेतों के बीच से प्रतिध्वनित होती। उसमें एक प्रकार का मंत्र-मुग्धकारी प्रभाव होता। उस ध्वनि ने लेखक को विवश किया था कि वह उसकी जानकारी प्राप्त करे। ज्ञात हुआ कि कथित ध्वनि इन दिनों आश्रम के खेतों की रखवाली का कार्य करनेवाले श्रीकेशव भाई की डफली की है। वह सुबह से शाम तक खेतों की रखवाली करते थे। वह प्रायः आश्रम के सभी विस्तृत खेतों का चक्कर दिन में तीन या चार बार अवश्य लगाते। यहाँ की शस्य-श्यामला भूमि से उनका प्रगाढ़ प्रेम था। वह कभी-कभी खेतों में प्राण-पण से जुटे हुए भी देखे जाते

थे। उस समय हरियाली के बीच उनका वह पीला अथवा केसरिया वस्त्र, जो बौद्ध-भिक्षुओं का बाना है, अत्यंत ही सुहावना जान पड़ता था। वह वास्तव में इतने अधिक एकांत एवं प्रकृति-प्रिय व्यक्ति हैं कि भोजन और प्रार्थना के समय के पश्चात् उन्हें सहज ही नहीं पाया जा सकता था। कभी-कभी उनकी डफली की आवाज़ उन छोटी-छोटी पहाड़ियों के कोनों से सुनाई पड़ती थी, जो वर्धा से सेवाग्राम आनेवाली सड़क पर पड़ती हैं। उनकी एकांत-प्रियता का प्रमाण तो केवल इतने से ही मिल जाता है कि वह कभी अपनी ओर से किसी का परिचय प्राप्त करने अथवा किसी को अपना परिचय देने की उत्सुकता नहीं दिखाते। वास्तव में वह एक ऐसे मौन-साधक हैं कि उनके उद्देश्य तक का पता लगाना कठिन कार्य है। वह कभी किसी से सैद्धांतिक बातों पर बहस करना नहीं पसंद करते। उनका अपना कार्य-क्रम बिना किसी बाधा के अनवरत गति से चलता रहता है, और वह उसी में व्यस्त रहते हैं।

यों तो सेवाग्राम का नाम आकर्षक और महान् हो गया है कि वहाँ निवास करनेवालों के संबंध में स्वाभाविक ही लोगों की भावना बहुत ही पवित्र और ऊँची बनी हुई है, किंतु सचमुच ही वहाँ ऐसे व्यक्ति अधिक हैं, जिनके लिये मन में सदा एक जिज्ञासा रहा करती है। विभिन्न उद्देश्यों की गठरी बाँधकर इस आश्रम का हर पथिक अपने रास्ते पर चलता ही जाता है, वह मुड़कर पीछे की ओर निहारता तक नहीं।

केशव भाई भी ऐसे ही पथिकों में से थे। वह किस मंजिल तक पहुँचना चाहते थे, और वह कहाँ तक सफल रहे, अथवा सेवाग्राम में ही रहकर जीवन के एक-एक दिन बिताने का उनका क्या उद्देश्य था—यह बताना एक समस्या है। पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि आश्रम में रहकर वह काफ़ी संतुष्ट थे, और शांति का अनुभव करते थे। उन्हें बापू पर अटूट प्रेम था, वह बापू को अपना सर्वस्व समझते थे। वह बापू के सच्चे भक्त थे। उनके इस स्नेह और भक्ति के हृदय-ग्राही दृश्य लेखक ने देखे हैं।

सन् १६३५ में, जब बापू नालवाड़ी (वर्धा) में रहा करते थे, केशव भाई के गुरु अपने एक अन्य शिष्य तथा उन्हें लेकर बापू से प्रथम बार मिले थे। उस समय वह बापू के अहिंसा का व्यवहार्य रूप देखकर इतने अधिक प्रभावित हुए कि वह काफ़ी दिन रहकर वहाँ से कुछ प्राप्त करने की प्रबल आकांक्षा को न रोक सके। किंतु केशव भाई में तो एकाएक इतना अधिक परिवर्तन आ गया कि उन्होंने पुनः जापान लौट जाने के प्रश्न पर साफ़-साफ़ इनकार कर दिया, और आजीवन बापू की छत्रच्छाया में रहने का दृढ़ निश्चय किया। इस निश्चय से उनके गुरु अप्रसन्न न हुए, बल्कि वह उनके साथ उनके गुरुभाई को भी छोड़कर अकेले चले गए। उनके गुरुभाई कुछ महीनों रहकर ही जापान लौट गए, किंतु केशव भाई ने अपने को भारतीय वातावरण में इतना अधिक ढाल

लिया कि वह उससे एकमय हो गए। उनकी इस दृढ़ता पर बापू मुग्ध थे।

बापू ने केशव भाई को वास्तव में केशव माना, इसमें कोई अत्युक्ति नहीं। किंतु इसे समझने के लिये हमें एक बार बापू की उस प्रार्थना सभा का ध्यान करना पड़ेगा, जिसमें केशव भाई भी सबके पीछे बैठा करते थे, और उसके बाद उस प्रार्थना का ध्यान भी करना आवश्यक होगा, जिसमें अपनी गिरफ्तारी के पश्चात् वह अनुपस्थित थे। प्रार्थना में आकर बापू जब बैठते थे, वातावरण शांत होता था, और सर्व-प्रथम 'केशव' कहकर वह भाई को संबोधित करते थे। भाई उसी समय बापू को नमस्कार कर कथित मंत्र के तीन आवर्तन के पश्चात् पुनः सिर झुका देते थे, और तब प्रार्थना का कार्य-क्रम प्रारभ होता था। सच तो यह है कि हम प्रार्थना में बैठकर ही यह समझ सकते थे कि किन भावना-पूर्ण शब्दों में बापू इन्हें संबोधित करते थे, किंतु जब केशव भाई आश्रम में नहीं होते थे, तो बापू के "अभ्यो…" कहते ही प्रार्थना की क्रिया प्रारंभ कर दी जाती थी। यह था बापू की दृष्टि में केशव भाई का स्थान।

श्रीश्रीकृष्णदास जाजू

श्रीजाजूजी के पिता सपरिवार आर्वी में, जो कि वर्धा से काफ़ी फ़ासले पर एक अच्छा व्यापारिक स्थान है, रहते थे। वहीं आपका जन्म, सन् १८८२ में, हुआ था। बचपन में आपको लोकल स्कूल में भर्ती कराया गया। आप कुशाग्र-बुद्धि तथा अध्ययनशील थे। कभी किसी अध्यापक को आपकी ओर से असंतुष्टि का अवसर न मिला। आप सदा ही अध्यापकों के कृपा-भाजन रहे। आपकी दिलचस्पी खेल-कूद की ओर उतनी नहीं थी, जितनी अध्ययन की ओर। अस्तु। आप काफ़ी गंभीर भी रहा करते थे। आपने ससम्मान मिडिल पास किया। सन् १८९८ में वर्धा से मैट्रिक पास करने के बाद अध्ययन जारी रक्खा, और उत्तरोत्तर आपकी रुचि पढ़ने की ओर बढ़ती गई। आपको एफ़० ए० तथा बी० ए० में टैगोर-स्कॉलरशिप मिला। सन १९०२ में बी० ए० पास करने के पश्चात् आपने घरवालों की राय से क़ानून का अध्ययन प्रारंभ किया, और सन् १९०५ में बी० एल० की डिग्री प्राप्त की।

अब आप प्रैक्टिस करने के विचार से सपरिवार वर्धा आ गए। छ-सात साल तक लगातार आपकी प्रैक्टिस बढ़ती गई।

इसका मुख्य कारण यह था कि आपने कभी झूठा मुक़द्मा अपने हाथों में नहीं लिया। यदि कोई झूठा मुक़द्मा लेकर आया भी, तो उसे निराश होकर लौटना पड़ा, या फिर आपके परामर्श से उसने सुलह करने का ही प्रयत्न किया। आप प्रारंभ से ही अदालत के अंदर इतने अधिक मुक़द्मों को देखकर चकित रहा करते थे, और विशेषतया झूठे तथा व्यर्थ के झगड़ालू मुक़द्मों की रवैया पर आपका हृदय अत्यंत दुखी हो जाया करता था।

आपका निश्चय था कि "संपत्ति के लिये आत्मा बेचना घोर अन्याय है," इसीलिये, इतने ही कम दिनों में, आपने वकालत से संबंध विच्छेद कर लेने का निश्चय कर लिया। इसी बीच स्व० जमनालाल बजाज से आपकी काफ़ी घनिष्ठता बढ़ गई, और दूसरी ओर वकालत से तो मन बिलकुल ही फिर चुका था। अस्तु। स्व० बजाज के सहयोगी बनकर लोक-सेवा के क्षेत्र में कूद पड़े, अर्थात् सन् १९१० से आपकी प्रवृत्ति *संस्था-कार्य अर्थात् जन-सेवा की ओर* झुकी। उसी समय, स्व० बजाज और आपके मधुर संयोग से, 'मारवाड़ी-विद्यार्थी-गृह' का जन्म वर्धा में हुआ था। आपके रहन-सहन तथा जीवन में विशेष उलट-फेर सन् १९१५ में हुआ।

सन् १९२० में, जब विश्व-वंद्य महात्मा गांधी का अहिंसक सत्याग्रह प्रारंभ हुआ, आपने देश के लिये आजीवन

वकालत छोड़ देने का व्रत लिया। इस समय तक आपका झुकाव राष्ट्रीयता की ओर पूर्णतया हो चुका था, और यहाँ से आपका सार्वजनिक जीवन आरंभ होता है।

आप जन-जागृति तथा राजनीति में ठोस और स्थायी काम करने के कट्टर पक्षपाती रहे हैं। आपने, सन् १६२४ में, स्व० बजाज तथा श्रीसूरजमल रुइया के सहयोग से, बंबई (विले-पार्ले) में 'महिला-सेवा-मंडल' की स्थापना की। इसकी कार्य-कारिणी के सदस्य आप भी चुने गए। आपने उसके अंतर्गत जिस प्रकार ठोस और व्यापक कार्य किया, उसी का प्रतीक आज का 'महिला-आश्रम, वर्धा' है, जो कि भारत में स्त्रियों का एकमात्र राष्ट्रीय तथा उद्योग-प्रधान शिक्षा-आश्रम है। आप 'मारवाड़ी-शिक्षा-मंडल' में प्रारंभ से आज तक समान लगन के साथ काम करते चले आ रहे हैं। आपने इस संस्था में सामाजिक दृष्टि से जो-जो क्रांतिकारी कार्य किए हैं, वे आपके असीम साहस के परिचायक हैं। आपके कारण ही उक्त कट्टर सांप्रदायिक संस्था में हरिजनों का प्रवेश हो सका। आपको इस योजना के कारण न-जाने कितने उपहास और कटूक्तियों का शिकार बनना पड़ा, किंतु आप अचल रहे।

'मध्यप्रांत-महाराष्ट्र-चरखा-संघ' तथा 'अखिल भारत-ग्राम-उद्योग-संघ'-जैसी आदर्श संस्थाएँ आपके सेवा-कार्य की प्रतीक हैं। इसके अतिरिक्त आपने 'ग्राम-सेवा-संघ', 'हिंदुस्तानी तालीमी संघ' तथा 'गोसेवा-संघ' में भी महत्त्व-पूर्ण हाथ बटाया है।

'अखिल भारत-चरखा-संघ' के भूतपूर्व प्रधान मंत्री श्रीशंकर-लालजी बैंकर ने जब अपनी अस्वस्थता के कारण कार्य-संचालन में असमर्थता प्रकट की, तो यह भार आपको सौंपा गया, जिसे आज तक आप बड़ी कुशलता से वहन करते आ रहे हैं। संघ के डेढ़ लाख रुपए का, जो कि भूतपूर्व कैशियर कांतीलाल के द्वारा ग़बन किया गया था, आप ही के उद्योग तथा परिश्रम से पता लग सका था।

चरखा-संघ के कार्यकर्ताओं के बीच बोलते हुए एक बार आपने कहा था—"जब आपको चरखा-संघ की सेवा करनी है, तो आपको चरखामय हो जाना चाहिए, अर्थात् अपना जितना भी दैनिक जीवन का घेरा है, सबमें चरखे का ही चिंतन हो। आपको चाहिए कि आप चरखा-संबंधी साहित्य का ही अध्ययन करें, और उसी की खोज करें।" इन वाक्यों से जाजू जी की सच्ची लगन का पता बड़ी आसानी से चल जाता है। स्वल्प वेतन-भोगियों द्वारा संस्था का कार्य-सचालन आपकी अपनी विशेषता है। एक पैसे का भी अनावश्यक ख़र्च आपकी मानसिक वेदना का कारण बन जाता है। आप अपने पुराने कार्यकर्ताओं पर अत्यधिक विश्वास रखते हैं।

स्व० जमनालाल बजाज से आपकी जैसी घनिष्ठता थी, और कालांतर में आप लोग जिस प्रकार साथ-साथ लोक-सेवा में प्रवृत्त हुए, उसे चिर-मिलन के रूप में स्थायी बनाने के लिये आपने अपनी लड़की का विवाह जाति-पाँति

तोड़कर स्व० बजाज के भतीजे श्रीराधाकृष्ण बजाज से कर दिया।

वैसे तो जाजूजी का बँगला बजाजवाड़ी में है, किंतु अपने लिये इस समय आपने अपनी कुटिया 'खादी-विद्यालय' के निकट ही सेवाग्राम में बनवा ली है, और पूर्ण तपस्वी का जीवन व्यतीत करने लगे हैं। अस्तु। अब आपका संसार ही परिवार बन गया है।

काका कालेलकर

कहा जाता है—"होनहार बिरवान के होत चीकने पात।" हमारे काकाजी की असाधारण प्रतिभा बाल्यकाल से ही प्रकट होने लगी थी। उनका कुतूहल, उनकी जिज्ञासा, उनकी सूझ इतनी अद्भुत एवं सार-गर्भित होती थी कि सहज ही कोई बाल-मनोविज्ञान का जाननेवाला व्यक्ति कह सकता था—"यह लड़का आगे चलकर एक अच्छा विचारक तथा प्रतिभावान् व्यक्ति होगा।"

काकाजी का जन्म वैसे तो उच्च कुल के कोकोणस्थ महाराष्ट्रीय ब्राह्मण-परिवार में हुआ था, किंतु उस समय उनके घर की आर्थिक अवस्था बिलकुल ही साधारण हो चुकी थी। कहते हैं, उनके बाबा एक संभ्रांत व्यक्ति थे, और उन लोगों को 'राजाध्यक्ष' की पदवी थी, इसी से वे आज सभी 'कालेलकर' कहे जाते हैं। इसका कारण है, सॉवतबाड़ी के पास भोड़गाँव-नामक एक प्रसिद्ध क़स्बा है, जिसके पास का कालेली गाँव काकाजी के पिता का जन्म-स्थल है। किंतु काकाजी का जन्म १ दिसंबर, १८८५ ई० को, सितारा में, हुआ था, जहाँ उनके पिता नौकरी करके जीविकोपार्जन करते थे। पिताजी का अँगरेज़ी-ज्ञान बहुत कम था, इसीलिये उनमें भारतीयता कूट-

कूटकर भरी थी। वह एक धर्मनिष्ठ व्यक्ति थे, अतः उनके विचारों का प्रभाव काकाजी पर भी पर्याप्त पड़ा था। काकाजी बाल्यकाल से ही एक जिज्ञासु के रूप में हमारे सामने आते हैं।

एक दिन की घटना है, पिताजी ने सभा में जाने की बात घर में चलाई। उसी समय काकाजी ने पिताजी से पूछा—"सभा एटले शूँ ?" (सभा यह क्या है ?)

पिताजी ने उत्तर दिया—"मोटा-मोटा लोको भेजा थाय अने भाषणो करे छे, बधा ते साभड़े छे !" (बड़े-बड़े लोग भाषण देते हैं, और बैठे हुए लोग सुनते हैं।)

"भाषणो एटले शूँ ?" (भाषण यह क्या है ?)

"भाषण एटले माणस उमा थई ने मनमाँ जे कई आवे, ते बोली नाखे, अने लोको बेठा-बेठा साभणे।" पिताजी ने उत्तर दिया—(मनुष्य खड़े होकर जो कुछ मन में आवे, वह बोलता है, इसी का भाषण कहते हैं, और लोग बैठे-बैठे सुनते हैं।)

"तो मारा मन में जे आवे ते हूँ सभा माँ बोली सकूँ खरो ! गमे ते बोलू अथेते भाषण कहे वाद ?" (तो मेरे मन में भी जो आवे, वह मैं बोल सकता हूँ। ठीक, तो क्या यह भाषण कहलाएगा ?)

"हा, हा, पण तू नानो छे।" पिता ने उत्तर दिया—(हाँ, हाँ, किंतु तू तो अभी छोटा है।)

यह काकाजी के जीवन की पहली सभा थी, जिसमें वह पिता के साथ गए। वास्तव में पिता के साथ का यह छोटा संभाषण ही बालक की महत्त्वाकांक्षा को व्यक्त करता है। अन्य बड़े लोगों की भाँति ही अपने भाषण देने की इच्छा को व्यक्त करना उनकी प्रगतिशीलता की ओर संकेत करता है। इतना ही नहीं, जैसा हमने ऊपर कहा है—उनके ऊपर पिता की सात्त्विकता एवं धर्म-परायणता का भी काफ़ी प्रभाव पड़ा था। इसके साथ-साथ वह बचपन से ही दृढ़ निश्चयी भी थे।

महाशिवरात्रि का पर्व था। काकाजी ने अपनी उतनी छोटी अवस्था में ही निश्चय किया कि वह भी व्रत रक्खेंगे। पिता ने उन्हें समझाया—"यह महादेवजी का व्रत है, और निर्जल रहा जाता है। इसमें किसी प्रकार की त्रुटि होने पर शंकर भगवान् फल देने के बजाय सर्वनाश कर देते हैं।"

किंतु इससे काकाजी के निश्चय पर कोई असर नहीं पड़ा, अपितु उन्होंने एक ऐसा तर्क उपस्थित कर दिया, जिसका उत्तर देना पिता के लिये यदि असंभव नहीं, तो कठिन अवश्य था। यही उत्तर उनकी प्रखर बुद्धि एवं दार्शनिक प्रवृत्ति का परिचायक था। उनका उत्तर था—"मुझे तो महादेव की भक्ति है, मैं किसी फल के लालच से व्रत नहीं कर रहा। मुझे तो महादेव को प्रसन्न करना है, मैं महाशिवरात्रि का व्रत अवश्य करूँगा।"—क्या अब भी आप कहेंगे कि उस समय वह किसी निष्काम कर्मयोगी-सी बातें नहीं कर रहे थे ? क्या अब

भी आप प्रश्न करेंगे कि काकाजी को बापू क्यों एक प्रेरक के रूप में स्वीकार करते थे ? यह उपहास की बात नहीं। प्राचीन ऋषियों ने तो पशु और जड़-वस्तुओं तक को अपना गुरु मानकर प्रेरणा ग्रहण की है, फिर बापू तो अपने निकटतम उन सेवाभावी लोगों से ही प्रेरणा प्राप्त करते थे, जो कुछ सीखने की दृष्टि से बापू को घेरे रहते थे।

कुछ दिनों पश्चात्, अपनी सुविधानुसार, पिताजी पूना में रहने लगे थे। काकाजी का विद्यारंभ बहुत पहले हो चुका था। अध्यापक उनकी ग्राह्य शक्ति पर आश्चर्य किया करते थे। पूना में जहाँ उनका घर था, उसके पास ही एक पुलिस-हवलदार रहा करते थे। इनके और काकाजी के घर में अत्यंत घनिष्ठता थी। वह हवलदार साहब को बाबा देशपांडे के नाम से पुकारते थे। हवलदार साहब प्रायः काकाजी के घर आया करते और उन्हें विभिन्न प्रकार की शिक्षा-प्रद ऐतिहासिक कहानियाँ सुनाया करते थे। प्रसंग-वश उन्होंने सर्व-प्रथम शिवाजी महाराज की देश-भक्ति की कहानी सुनाई, और यह भी कहा कि देश-भक्ति मनुष्य का कर्तव्य है। वस्तुतः ये शब्द दीक्षा के रूप में काकाजी के कानों में पड़े, और यहीं से देश-भक्ति-संबंधी साहित्य पढ़ने की प्रबल इच्छा उनमें जाग्रत हुई। यह एक विचित्र बात थी कि ऐसी ध्वनि काकाजी के कानों में एक ऐसे व्यक्ति द्वारा पड़ी, जो अपनी सरकार-परस्ती के कारण बंबई की खुफिया पुलिस में रहकर देश-भक्तों

का दुश्मन रहा। महाराष्ट्र के क्रांतिकारी षड्यंत्र का पता लगाने में बाबा देशपांडे का असाधारण हाथ था।

इस देश-भक्ति की भनक से ही काकाजी को प्रेरणा मिली, और उन्होंने अपने मित्रों का एक मंडल संगठित करके उसके बीच देश-भक्ति और सामाजिक घटनाओं पर भाषण का आयोजन किया।

पिताजी समयानुसार सांगली-राज्य के ट्रेजरी ऑफ़िसर हो गए। परिवार बहुत बड़ा था। स्वयं काकाजी ही पाँच भाई थे। फिर सभी भाई पढ़ते-लिखते भी थे। काकाजी पूना के कॉलेज में प्रविष्ट होनेवाले थे। वह भी अन्य कॉलेज के लड़कों की भाँति मुक्त हस्त से रुपया खर्च करना चाहते थे, किंतु वश ही क्या था?

कहना न होगा कि मनुष्य की भौतिक अभिलाषाएँ और आकांक्षाएँ जितनी ही अधिक बढ़ती जाती हैं, मनुष्य को उतना ही अधिक अनीति की ओर प्रेरित करती हैं। काकाजी के ऊपर भी कुछ ऐसा ही प्रभाव पड़ा। जिस समय वह पूना-कॉलेज जा रहे थे, पिताजी भी सांगली-राज्य के कार्य से जाने-वाले थे। उन्हें लगभग तीन लाख रुपयों के 'प्रामिसरी-नोट' पूना से लाने थे। काकाजी की आवश्यकताओं ने उन्हें उन रुपयों के संबंध में बेईमानी की बात सोचने और पिताजी के सामने अपना सुझाव रखने पर विवश किया। उन्होंने पिताजी के सामने एक मूर्खता-पूर्ण सुझाव रक्खा—"नोटों का

भाव तो प्रत्येक दिन घटता-बढ़ता रहता है, थोड़ी-सी मेहनत के पश्चात् आप सस्ते नोट खरीद सकते हैं, और राज्य को आम भाव बताकर शेष रुपया अपने लिये बचा लीजिए। इसकी खबर भी किसी को न लगने पाएगी।"

पिताजी ने इस बात को आश्चर्य से सुना, और काकाजी की ओर विस्फारित नेत्रों से देखा। इस बात से उनके हृदय को कितनी चोट लगी, इसे काकाजी उस समय न समझ सके। थोड़ी देर पश्चात् पिताजी ने कहा—"दत्तू! मुझे पता न था कि तू इतना नीच है। तेरी बातों का अर्थ यह है कि मैं अपने अन्नदाता से छल करूँ।......तू कॉलेज जा रहा है, इसीलिये ऐसा करना चाहता है?"

इसके बाद काकाजी की आँखें खुलीं, और गाड़ी में उन्हें आधी रात तक नींद नहीं आई। भीषण अंतर्द्वंद्व के बीच काकाजी ने पूना उतरते-उतरते यह निश्चय किया कि वह अब कभी ऐसा कोई कार्य नहीं करेंगे, और पिताजी का नाम लज्जित न होने देंगे।

मनुष्य की बुद्धि का विकास वय प्राप्त करने पर होता है। काकाजी की बुद्धि के संबध में इन थोड़ी-सी घटनाओं के देखते हुए किसी को भी उनकी कुशाग्रता पर संदेह न होगा। वह आज के एक गंभीर विचारक, साहित्य-सेवी एवं देश-सेवी हैं। उन्होंने हिंदी, मराठी और गुजराती की कई उपयोगी पुस्तकें लिखी हैं। वैसे वह अँगरेज़ी और बँगला के भी अधिकारी विद्वान् हैं।

सन् १९४१ के पूर्व वह साहित्य-सम्मेलन द्वारा संचालित 'राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, वर्धा' के प्रमुख संचालक थे, किंतु भाषा-संबंधी नीति अर्थात् हिंदी-हिंदुस्तानी के संबंध में मतभेद होने के कारण उससे त्याग-पत्र देकर अब उन्होंने हिंदुस्तानी-प्रचार-संघ का संगठन किया है। गांधीजी के अनन्य भक्त होने के नाते काकाजी अपनी भाषा-संबंधी नीति पर अटल हैं। किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि वह उनके अंध-भक्त हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि गांधीजी और काकाजी के विचारों में तादात्म्य है।

काकाजी अत्यंत अध्ययनशील व्यक्ति हैं, और किसी भी विषय पर अपनी राय देने में पूर्ण स्वतंत्र। उनके रहन-सहन का ढंग बिलकुल ही सादा है, किंतु वह बापूजी की नक़ल में न तो लँगोटी ही लगाते और न-नंगे बदन ही रहते हैं। हाँ, उनके मार्ग पर चलना वह खूब जानते हैं। वह कलाकार और भावुक हैं, इसीलिये प्रकृति-प्रिय भी। काकाजी की सार-गर्भित कला का उदाहरण हम यहाँ उपयोगिता की दृष्टि से देना उचित समझते हैं—

"कोई वस्तु सुंदर है, ऐसा सोचकर उसे उपयोग में मत लाओ, अपितु उपयोग की वस्तु सुंदर देखकर लो, अथवा उसे सुंदर बनाओ।"

"निर्धनता जीवन का कोई बड़ा दुख अथवा हानि नहीं है, प्रत्युत नीरसता को सहन करना ही महान् हानि है।"

काकाजी का पूरा नाम 'दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर' है, किंतु वर्धा में तो वह काकाजी के नाम से ही जाने जाते हैं।

मीरा बहन

वृद्ध भारत सदा से ही नारियों के प्रति श्रद्धा रखता आया है, तभी तो उसके धर्म-ग्रंथों में "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः।" का अमर सूत्र प्राप्य है, और सीता, सावित्री, दुर्गा तथा लक्ष्मी आदि नारियों की कीर्ति से आज भी उसका भाल ऊँचा है। वैदिक काल से लेकर आज तक हमारे यहाँ नारियों को जो आदर प्राप्त हुआ है, वह निश्चय ही सर्वोपरि है। कहना न होगा कि आज के भारत में भी—जब हमारा सामाजिक ढाँचा विभिन्न परिस्थितियों में पड़कर अत्यंत ही खोखला बन चुका है, और एक हजार वर्ष पहले आई विदेशी सत्ताओं के कारण हम नारी के प्रति अत्यधिक असहिष्णु ही नहीं बन गए थे, अपितु उनकी बुद्धि और चरित्र पर भी हमें संदेह होने लगा था—युग-पुरुष महात्मा गांधी ने उनका समुचित आदर किया। उन्हें बड़ी-से-बड़ी जिम्मेदारी का कार्य देकर दुनिया के समक्ष यह सिद्ध कर दिया कि नारियाँ पुरुषों से किसी अर्थ में कम नहीं। यदि यहाँ यह कहें कि गांधी-युग की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है, जिसमें स्त्रियों का सबसे अधिक और उचित सम्मान किया गया है, तो अनुचित न होगा। विश्व के इतिहास की यह अनोखी तथा पहली ही

खान अब्दुलग़फ़ार ख़ाँ (सीमान्त गांधी)

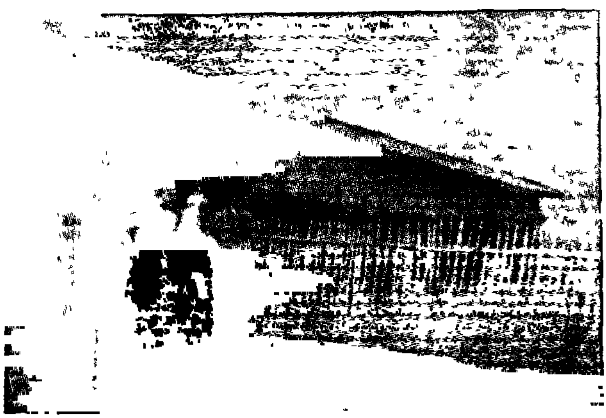

स्व० महादेव देसाई, मीर बेन और लॉर्ड लोदियन

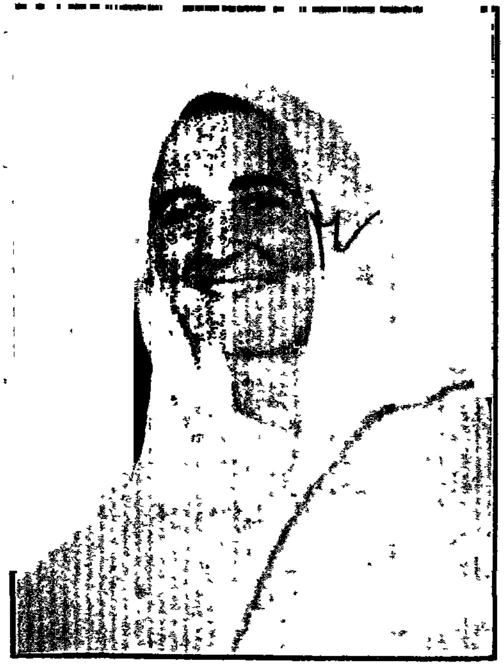

कुमारी मीराबेन (मिस स्लेड)

आचार्य कृपलानी

मिलाश है, जब कि एक नारी के ऊपर सबसे बड़ी जिम्मेदारी—'राजदूत' का कार्य-भार सौंपा गया है, यह भारत के लिये गर्व की बात है। यहीं तक नहीं, श्रीमती सरोजिनी नायडू को प्रांतीय गवर्नर के पद पर आसीन करने का श्रेय भी इस गांधी-युग को ही है।

आज हम ज्यों ही महामानव गांधी का नाम लेते हैं, उसके साथ केवल-मात्र माता कस्तूर बा का ही व्यक्तित्व हमारे सामने उपस्थित नहीं हो जाता, अपितु संस्कार और निर्माण की प्रतिमूर्ति के रूप में नक्षत्र-मंडल की भाँति बापू के चारों ओर उन रमणी-रत्नों का भी जाज्वल्य रूप दिखाई पड़ने लगता है, जो उनके चारों ओर जगमगाती रही हैं, और जो आज भी देश में छाए अंधकार को दूर करने में संलग्न हैं। इस नक्षत्र-मंडल के ही एक अति प्रकाशित तारे के रूप में कुमारी मीरा बहन भी हैं। वह पाश्चात्य सभ्यता में पली होने पर भी सचमुच ही हमारे लिये उस मीरा की भाँति हैं, जिसने गिरिधारीलाल के पावन प्रेम में एक दिन समस्त दुखी और त्रस्त जनता को सराबोर कर दिया था। मीरा बहन का चरित्र गांधी-वाद की कसौटी है। उनकी तपस्या, संयम और साधना की प्रतीक है।

मीरा बहन का विदेशी नाम मेडलीन स्लेड है। वह एक संभ्रांत अँगरेज-परिवार की महिला हैं। उनके पिता भारत में ही एक अच्छे सरकारी पद पर थे। घर में रुपए-पैसे की

कमी न थी। मी राबहन उस समय मिस स्लेड थीं, और मिस स्लेड ने दोनो हाथों वैभव के साथ खेला। यहाँ तक कि आरामतलबी और फ़ैशन को उन्होंने चुनौती दे दी। वह अपनी परा काष्ठा पर पहुँच चुकी थी। प्रत्येक प्रवृत्ति, प्रत्येक कार्य और प्रत्येक अवस्था का कोई-न-कोई अंत अवश्य होता है। अस्तु। उसी प्रकार मिस स्लेड के जीवन में भी एक दिन वह आया, जब उनकी उस आरामतलबी की ज़िदगी का अंत हुआ, और वह सादगी की ओर प्रवृत्त हुईं। वह महात्मा गांधी से अत्यधिक प्रभावित हुईं, और उन्होंने ग़रीबी से प्यार करने की शपथ ली। आज भी वह अपनी इस प्रतिज्ञा पर दृढ़ हैं। इस प्रतिज्ञा का अक्षरशः पालन करने के लिये उन्होंने अपना वह पुराना नाम तथा वेष-भूषा भी बदल दी, जो उनकी आरामतलबी और फ़ैशन की परिचायिका थी। उन्होंने विशुद्ध हृदय से मीरा के नाम से पुकारा जाना पसंद किया। बापू की छत्रच्छाया में ऐसे अन्य भी उदाहरण हैं। इसी प्रकार बापू के प्रभाव-क्षेत्र में आकर एक 'पोलिश' सज्जन मि० मारिस फ़्राइडमैन ने, जो बँगलोर की इलेक्ट्रिक फ़ैक्टरी के सुपरिंटेंडेंट थे, अपना नाम बदलकर भारतानंद रख छोड़ा है।

सन् १९३० में पूज्य बापू ने नमक-आंदोलन छेड़ा, और इसी संबंध में तत्कालीन सरकार ने उन्हें लगभग ६ मास के लिये जेल में बंद कर दिया। जेल से बाहर निकलते ही,

सन् १९३१ में, गोल मेज़-कॉन्फ्रेंस में भारत का प्रतिनिधित्व करने के लिये ब्रिटिश सरकार द्वारा वह निमंत्रित किए गए। इसी समय मीरा बहन भी उनके साथ इँगलैंड गईं। वहाँ उन्होंने पार्लियामेंट के मेंबरों तथा प्रसिद्ध राजनीतिक व्यक्तियों से भेंट की, और उनके सामने भारत की वास्तविक स्थिति रक्खी। कई सभाओं और पार्टियों में भाषण देते हुए भारत-वर्ष की ग़रीबी और अशिक्षा का ज़िम्मेदार ब्रिटिश हुकूमत को ठहराया, तथा लोगों के दिलों में भारत के प्रति एक सम-वेदना जाग्रत् कर दी। इसके पश्चात् ही, सन् १९३४-३५ में, उन्होंने ब्रिटेन और अमेरिका का एक तूफ़ानी दौरा किया, जिसमें जगह-जगह सभाएँ करके वहाँ की जनता में भारत की शोचनीय स्थिति पर अभूतपूर्व प्रकाश डाला, और भारत के प्रति मानवता द्वारा अर्जित प्रेम और सद्भावना पैदा की। यह कार्य मीरा-जैसी कर्मठ महिला के लिये ही संभव था। मीरा बहन की दृढ़ता, सात्त्विकता एवं कार्य-कुशलता को लेखक ने अति निकट से देखा है। वह प्रायः सेवाग्राम-आश्रम के उस प्रयोग-शाला में, जो लेखक की देख-रेख में चलता था, आया ही जाया करतीं, और उस समय कुछ-न-कुछ चर्चा अवश्य हो जाती।

उस समय भी वह पहले की भाँति ही शुभ्र खादी की साड़ी पहनती थीं, किंतु महाराष्ट्रीय स्त्रियों की तरह उसका छोर पीछे खोंसती थीं। ऐसा करने का उनका मुख्य उद्देश्य यह

था कि मनुष्य को जिस समुदाय में काम करना हो, उसमें मिलने के लिये उसे अपनी वेष-भूषा में उसके साथ समानता स्थापित करे, जिससे उसे उसकी सद्भावना प्राप्त हो सके। मीरा बहन बापूजी-जैसी ही लंबी हैं, गोरा और व्यक्तित्व-पूर्ण चेहरा, जिससे सदा पौरुष टपकता है, किसी के ऊपर अपना प्रभाव डालने में उनका सहायक होता है। अँगरेज महिलाएँ वैसे भी पौरुषी प्रवृत्ति की होती हैं, फिर जब वे अपने सिर की छोटी-छोटी केश-राशि को भी अलग कर दें, जैसा मीरा बहन करती हैं, तो उनका व्यक्तित्व पौरुष हो ही जायगा।

मीरा बहन स्वभाव से अत्यंत कोमल और प्रकृति की उपासिका हैं। सन् १९४१ में वह सेवाग्राम-आश्रम की विस्तृत 'कालोनी' से दूर, खेतों के बीच, अपनी कुटिया बनाकर एकाकी जीवन व्यतीत करती थीं। उसी समय उन्होंने छः मास का मौन-व्रत धारण किया था। फिर भी सेवाग्राम के छोटे-छोटे बच्चे उनके यहाँ पहुँचते रहते, और वह उनके धूलि-धूसरित होने पर भी उनसे प्रेम-पूर्वक मिलतीं, और तकली आदि कातने तथा पढ़ने के लिये प्रोत्साहित करतीं। जैसा कि हम अपने अन्य सेवाग्राम-संबंधी लेखों में लिख चुके हैं कि सेवाग्राम में सर्व-प्रथम मीरा बहन ही बापूजी के आदेशानुसार मगनवाड़ी से उनका साथ छोड़कर सुधार-कार्य करने के लिये आई थीं। सेवाग्राम एक छोटा गाँव है, जहाँ अधि-

कांश हरिजन-बस्ती है, और रहनेवाले लोग प्रायः अपढ़ तथा सभ्य संसार से एकदम अनभिज्ञ हैं। वह पहलेपहल गाँव के भीतर उनके बीच रहकर ही कार्य करती थीं। उन्हें यहाँ अपने कार्य में पर्याप्त सफलता मिली। उस समय सेवाग्राम तक आज-जैसी कोई सड़क न थी। अस्तु। बापू से मिलने के लिये, यदा-कदा, उन्हें मगनवाड़ी तक, लगभग ६-७ मील, पैदल ही आना-जाना पड़ता। हमने मीरा बहन के भीतर यह विशेषता पाई है कि लगातार १८-२० घंटे काम करने के पश्चात् भी वह थकतीं नहीं।

गांधीजी के साथ अपना पूरे चौबीस घंटे का समय व्यतीत करनेवाली मीरा ने उनका साथ जेलों तक में भी नहीं छोड़ा। सन् १९४२ के ऐतिहासिक 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव के फल-स्वरूप जब गांधीजी नजरबंद करके बंबई से 'आगाखाँ-पैलेस' को ले जाए गए, तो साथ में मीरा बहन भी थीं, और २१ मास तक जेल में रहने के पश्चात् मुक्त हुईं। इसके पहले भी वह दो बार 'सविनय-अवज्ञा - आंदोलन' में जेल जा चुकी हैं।

नजरबंदी से मुक्त होने के पश्चात् राजनीतिक उथल-पुथल ने न तो पूज्य बापू को ही एक स्थान पर (सन् १९४४ के बाद) स्थिर रहने दिया, और न उनके साथ काम करनेवाले लोगों को ही एक स्थान पर मिलकर काम करने का अवसर दिया। वस्तुतः नवंबर, सन् १९४४ में मीरा बहन ने भी ज्वालापुर

(हरिद्वार) के निकट गांधीजी के सिद्धांतों पर किसान-आश्रम की स्थापना की। वह आज भी वहीं रहकर रचनात्मक कार्य कर रही हैं, और अब तो, एप्रिल, सन् १९४६ से, युक्त प्रांतीय सरकार की 'नाज अधिक उपजाओ' योजना की विशेष परामर्श-दात्री हैं। उन्होंने 'हरिजन' में अंगरेजी हुकूमत के चले जाने पर वह जो अपनी विरासत हमारे यहाँ के बाबू-वर्ग पर छोड़ गई है, उसका एक मार्मिक चित्रण किया है।

वह लिखती हैं—'बीस साल से ज्यादा अरसा हो गया, मुझे हिंदुस्थान के फ़ैशनेबुल समाज या सरकारी दायरे में जाने का बहुत कम मौक़ा आया है। हिंदुस्थान में मेरी सारी जिंदगी सब हिंदुस्थानियों में गुज़री है। मगर पिछले साल मैंने किसानों को कुछ फ़ायदा पहुँचा सकने की उम्मीद से यू० पी०-सरकार की 'ज्यादा खूराक पैदा करने' के आंदोलन के सिलसिले में उनके खास सलाहकार का ऑनरेरी ओहदा मंजूर किया था। उसकी वजह से मैं एक नए दायरे में पहुँच गई। वहाँ चारों तरफ़ अजीब इंसान थे। हरएक दूसरे से अंगरेजियत में बैठने की कोशिश कर रहा था। मैंने निराश नज़र से अपने दफ़्तर में काम करनेवालों की ओर देखा। हर तरफ़ मिल का कपड़ा था। बुरी तरह कटी विलायती पतलून के भीतर कमीज घुसाई हुई! सख्त गरमी के बावजूद भी विलायती ढंग के कोट और पैरों में बाटा के चुस्त जूते! मगर यह बस न था। मैं जब उनके नाम पूछने लगी, तो सब

'मिस्टर' थे। मि० वर्मा, मि० शर्मा, मि० गुप्ता वग़ैरा-वग़ैरा। और, जब वे किसी और का ज़िक्र करते थे, तब भी मि० फ़लाँ की ही बात करते थे। इसके बाद हुज़ूर-हुज़ूर करते हुए चापलूस चपरासी और प्यादे आए, और मेरी परेशानी की हद हो गई।

"........क्या अब वह वक़्त नहीं आ गया है, जब बोल-चाल में, पहनने के कपड़ों और रहने के ढंग में घुसे हुए ये नामुनासिब रिवाज अँगरेज़ी सरकार के साथ ही ख़त्म कर दिए जायँ? आख़िर तो यह सब अँगरेज़ी सरकार की ही विरासत है न?"

स्मरणीय है कि भारतीय समाज-सुधार में समुचित सह-योग देने का श्रेय अन्य अँगरेज़-महिलाओं को भी मीरा बहन की भाँति है, जिनमें प्रमुखतः डॉक्टर एनीबेसेंट, श्रीमती मार्गरेट और श्रीमती डारथी जिनराजदास के नाम उल्लेखनीय हैं।

सुश्री राजकुमारी अमृतकौर

नारी-आंदोलन ही भारत का मूलतः सामाजिक एवं सांस्कृतिक आंदोलन है। इस आंदोलन को भूत काल में जितनी प्रगति मिली है, अथवा वर्तमान काल में जितनी मिल रही है, उतनी ही पर्याप्त नहीं। वास्तव में नारी-आंदोलन को सर्वग्राही बनाने की आवश्यकता है। नारी समाज का वह अंग है, जिसकी अवहेलना करके भारतीय समाज इस पतनावस्था को पहुँच चुका है। आज यह सिद्ध होने को बाक़ी नहीं कि समाज में नारी का स्थान ज्यों-ज्यों ऊँचा होता गया, समाज क्रमशः फूला और फला। भारत में कुछ वर्षों से नारी-आंदोलन अपना विशेष स्थान रखता है।

आज स्त्री-आंदोलन संचालित करनेवाली प्रमुख संस्था 'अखिल भारतीय महिला-सम्मेलन' को कौन नहीं जानता? इस संस्था का जन्म सन् १६२६ के अंतिम महीनों में हुआ था। इसके स्थापित करने का श्रेय श्रीमती मार्गरेट कज़िन को है। इस संस्था का प्रथम अखिल भारतीय अधिवेशन पूना में हुआ, और स्त्रियों के अधिकार-संबंधी अनेक प्रस्ताव पास हुए।

इस संस्था का विशेष प्रकार से ज़िक्र करना यहाँ इसलिये

आवश्यक था कि-इसके साथ-ही-साथ राजकुमारी अमृत कौर का अभ्युत्थान होता है। उक्त सम्मेलन को राजकुमारीजी स्थायी सदस्या हैं, और निरंतर उसमें योग दे रही हैं।

राजकुमारीजी पूर्वी पंजाब के सुप्रसिद्ध राज्य कपूरथला के राजा सर हरनामसिंह की एकमात्र पुत्री हैं। आपकी सारी शिक्षा-दीक्षा इँगलैंड में ही हुई है। आपका जन्म सन् १८८७ में हुआ था। आपने डार्सेटशायर के 'शेर बोर्न स्कूल फ़ार गर्ल्स' में उच्च शिक्षा प्राप्त की। वस्तुत: 'इँगलिश' तो आपकी मातृभाषा ही हो गई थी, परंतु वहाँ से लौटकर भारत की महिलाओं की गिरी हालत पर आपका ध्यान गया, और आपने सामाजिक कार्य करने का निश्चय किया। आपने इँगलैंड के अंदर देखा था स्त्रियों के रहन-सहन और आदर को। आपके लिये निस्संदेह यह खटकनेवाली बात थी कि अशिक्षा की शिकार ये गृह-देवियाँ ज़िंदगी-भर अपने भाग्य को कोसें। आपको सन् १६३० में सम्मेलन के सामाजिक विभाग का मंत्रित्व-पद ग्रहण करना पड़ा, और उसे आपने बड़ी कुशलता से निभाया। इसके बाद ही, सन् १६३१ से १६३३ तक, आप सम्मेलन की 'चेयर वोमेन' रहीं। विभिन्न स्थानों में कई शाखाएँ स्थापित करके उनके अंतर्गत महिलाओं की शिक्षा के लिये 'कन्या-पाठशालाएँ' खुलवाना तथा 'दवाखाने' का प्रबंध करवाना आपके सामने मुख्य कार्य थे।

अमृत कौर की वक्तृता-शक्ति तो अत्यंत ही आकर्षक है,

और आप अपने कार्य की वकालत करना भी खूब जानती हैं। राजकुमारी होने का भी इस जन-सेवा में कुछ कम फ़ायदा आपने नहीं उठाया। आपने रियासतों में भी महिलाओं का सामाजिक आंदोलन चलाया, और उसमें शासकों का योग भी प्राप्त किया। सन् १९३२ में आपने लॉर्ड लोथियन के समक्ष 'अखिल भारतीय महिला-सम्मेलन' तथा 'नेशनल कौंसिल ऑफ् वीमेन' का सफलता-पूर्वक प्रतिनिधित्व किया। आपके सामने स्त्रियों को बालिग़ मताधिकार प्राप्त कराने का एक अहम मसला था। रातोदिन स्त्रियों के होनेवाले मानसिक एवं आर्थिक शोषण का आपने बड़ी कुशलता के साथ उन्हें समझाया। प्रत्येक स्त्री को आर्थिक स्वतंत्रता क़ानूनन् मिलनी चाहिए, इस पर आपने बड़ा ज़ोर दिया।

इधर महात्मा गांधी के नारी-संबंधी विचार अत्यंत ही क्रांतिकारी थे, जो कांग्रेस के कार्यों में एक मुख्य अंग बनते जा रहे थे। इस बीच आपको कई बार महात्माजी से मिलने का अवसर मिला, और आप उनसे अत्यधिक प्रभावित हुईं। आपको सन् १९३३ में लंदन में 'ज्वाइंट सिलेक्ट कमेटी' के सामने भी उक्त 'नेशनल कौंसिल ऑफ् वीमेन' तथा 'वीमेंस इंडियन एसोसिएशन' का प्रतिनिधित्व करना पड़ा। 'वीमेंस इंडियन एसोसिएशन' की स्थापना सन् १९१७ में, अडयार में, श्रीमती डारोथी जिनराजदास द्वारा, हुई थी। इस संस्था की भी सेवाएँ कुछ कम नहीं। इन विभिन्न संस्थाओं का सफल

प्रतिनिधित्व करनेवाली राजकुमारीजी की प्रतिभा का हम आसानी से अनुमान लगा सकते हैं।

बापू तो मनुष्य-रूपी हीरे के एक पारखी एवं निर्माणकर्ता थे न, अतः उन्होंने राजकुमारीजी की प्रतिभा विशेष रूप से पहचानी, और उन्हें अपने निजी सेक्रेटरी का स्थान दिया। सन् १९३५ से ही लगातार राजकुमारीजी इस पद को सँभालती आई हैं। आपने उनके आदर्शों को अपने जीवन में इतनी गहराई तक उतारा है कि आपके भाषण और आपके पत्रों से ऐसा जान पड़ने लगता है, मानो उन शब्दों में वही महात्मा बोल रहा है, जो शांति का अमर संदेश-वाहक और सत्य तथा अहिंसा का पुजारी था। आपके लेख तो प्रायः 'हरिजन' में सर्व-साधारण ने देखे ही हैं, पर अब तो अन्य पत्रों में भी उनके विचार सरकारी तौर पर आने लगे हैं, जब से वह केंद्र में स्वास्थ्य-मंत्राणी हुई हैं।

यह सौभाग्य राजकुमारी अमृत कौर को ही प्राप्त था कि सन् १९४२ के पहले भी, जब सरकार भारतीयों और सुधारकों की दुश्मन थी, राजकुमारीजी अखिल भारतीय शिक्षा की परामर्श-दात्री रहीं। आप जालंधर-म्युनिसिपल-बोर्ड की सदस्या भी सन् १९३४ से ३६ तक रह चुकी हैं। वहाँ रहकर आपने कई लड़कियों के स्कूल खुलवाए, और समय-समय पर स्त्रियों की सभा का भी आयोजन किया। आज भी आप 'हरिजन-सेवक-संघ'

और 'महिला-मंडल, वर्धा' की क्रमशः 'सदस्या' एवं 'चेयर वीमेन' हैं।

हमारी यह चरित्र-नायिका टेनिस की प्रसिद्ध खिलाड़ी हैं। आपको कई खेलों में शिमला और लाहौर के अंतर्गत 'चैंपियनशिप' प्राप्त हो चुका है। उनके इस साहस-पूर्ण कार्य से हमें आश्चर्य इसलिये नहीं होता, क्योंकि उनकी प्राथमिक शिक्षा एवं जिंदगी के कुछ दिन ऐसे ही वातावरण में बीते हैं, जहाँ स्त्री और पुरुष समान रूप से खेलते एवं ज्ञान की अभिवृद्धि करते हैं। किंतु आश्चर्य तो इस बात पर होता है कि एक राजकुमारी पूज्य गांधीजी-जैसे भिखारी की सेवा में! क्या राजकुमारी को दुनिया से विरक्ति हो गई थी? नहीं-नहीं, आपको तो दुनिया से अनुरक्ति थी, और है। आप अंतिम श्वास तक बापू की तरह ही सेवा में लीन रहकर अपनी इह लीला समाप्त करना चाहती हैं।

सुश्री शांता बहन रानीवाला

प्रत्येक सजग एवं जागरूक व्यक्ति वर्धा-स्थित सुप्रसिद्ध संस्था महिलाश्रम को जानता है। किंतु आश्चर्य की बात है कि वे सभी लोग इस संस्था की उस प्रमुख जन्मदात्री सुश्री शांता बाई रानीवाला को नहीं जानते, जिसकी एकमात्र प्रेरणा पर इस संस्था ने जन्म लिया, और जिसने उसे अधिक-से-अधिक सफल बनाने में अपने जीवन के सभी सुखों की आहुति दे डाली, एवं जो आज भी उसके लिये अथक परिश्रम करती जा रही है।

कहना न होगा कि ऐसी अनभिज्ञता का प्रमुख कारण 'आत्मप्रचार' से उनका सर्वथा उदासीन रहना ही है। उन्होंने कभी ऐसे प्रकाशन को प्रोत्साहन नहीं दिया, जिसमें उनकी स्तुति की गई हो। वह स्वभाव से लगनशीला एवं ठोस कार्य की पक्षपातिनी हैं। लेखक ने कई बार उनके संबंध में कुछ लिखने के लिये उनकी स्वीकृति एवं विशेष जानकारी चाही, किंतु सर्वदा उसे नकारात्मक उत्तर ही मिला। और, स्पष्टतः उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि मनुष्य की आत्मा प्रचार से नहीं, अपितु ठोस कार्य से संतुष्ट हुआ करती है। बात वस्तुतः समझ में आनेवाली है। काम के

मुक़ाबले में अधिक प्रचार आत्मप्रवंचना के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

सन् १९१६ के पश्चात्, पूज्य बापू के राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश करते ही, भारतीय समाज के समग्र जीवन में चेतना की एक अजीब लहर दौड़ गई। गांधीजी ने जीवन के प्रत्येक अंगों पर अपने दृष्टिकोण से विचार करना प्रारंभ किया, और समाज के प्रत्येक अंग पर समान रूप से दृष्टिपात कर उसे निरंतर उठाने के प्रयत्न में लग गए। उन्होंने जहाँ पूँजीपतियों द्वारा आर्थिक शोषण का घोर विरोध किया, वहाँ पुरुषों द्वारा स्त्रियों के शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक शोषण का प्रतिरोध भी; जिसके फल-स्वरूप स्त्रियाँ पर्दा तोड़कर बाहर आईं, और उन्होंने खुले आम सुधार-कार्य एवं राजनीति में भाग लिया। गांधीजी-जैसे योग्य नेता का नाम बच्चों-बच्चों तक के कानों तक पहुँचते देर न लगी। इसी प्रकार शांता बहन के हृदय में भी गांधीजी के प्रति एक श्रद्धा अजाने रूप से काम करने लगी।

सन् १९१८ की घटना है। एक दिन सुश्री शांता बहन अपनी माता के साथ बंबई में वार्डन रोड पर घूम रही थीं। सौभाग्य-वश उसी रास्ते पर गांधीजी भी काठियावाड़ी पगड़ी बाँधे तथा धोती और कुरता पहने साधारण-से ही वेश में घूम रहे थे। शांता बहन की मा तथा स्वयं उन्होंने भी उनके बारे में पहले से ही सुन रक्खा था, और वह उन्हें दूर से पह-

जानती भी थीं। अस्तु, उनको देख के दोनों मा-बेटी रुकीं, और गांधीजी को प्रणाम किया। गांधीजी भी रुके, और उन्होंने कुशल पूछी, तथा संक्षेप में घरेलू जानकारी प्राप्त की। शांता बहन का पितृगृह बंबई में ही है। वह एक बहुत बड़े संपन्न घर की लड़की हैं। उनका विवाह भी ब्यावर (अजमेर) के काफ़ी सपन्न परिवार में हुआ था। किंतु ईश्वर को तो उनसे पारिवारिक सुख भोगने से कहीं अधिक महत्त्व-पूर्ण कार्य लेना था। अस्तु, उन्हें यह अच्छा न लगा कि वह इस माया-जाल में अधिक दिनों तक फँसी रहें।

असमय में ही उन्हें वैधव्य की दैवी प्रतारणा का सामना करना पड़ा। दांपत्य सुख से दूर उनका मन सभी प्रकार के सुखों से विद्रोह करने लगा। वह इस चिंता में पड़ गईं कि भारतवर्ष में विधवाओं की बढ़ती हुई संख्या का क्योंकर रोका जा सकता है, और उन विधवाओं की शोचनीय स्थिति कैसे सँभाली जाय। कैसे उन्हें स्वावलंबी, स्वाभिमानी. एवं अपने को मनुष्य समझने योग्य बनाया जा सके। यह भावना उनके विशुद्ध हृदय से ही निकली थी, और वह अवसर की खोज में कुछ दिनों उनके मस्तिष्क में ही चक्कर काटती रही।

किंतु गांधीजी की इस पहली मुलाक़ात में न तो इस प्रकार की कोई योजना ही थी, और न वह उनसे कुछ अधिक बातें करने का इरादा ही कर सकीं। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि

एक महान् व्यक्ति से मिलकर मनुष्य जो सुख प्राप्त करता है, वही उन्हें भी मिला, और वह उनकी महत्ता की ओर आकृष्ट हुई। उनके प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा हो गई, और कुछ दिनों पश्चात् वह उनसे मणिभुवन में मिलीं, जहाँ बापूजी ने उन्हें विलायती कपड़ों के बजाय स्वदेशी व्यवहार करने को कहा। उस समय स्वदेशी की व्याख्या स्वदेश में बने मिल के कपड़े से ही की जाती थी। शीघ्र ही यह आंदोलन देश-भर में प्रारंभ हुआ, और सर्व-प्रथम बंबई में ही विलायती कपड़ों की होली जलाई गई, जिसमें शांता बहन ने भी भाग लिया। उसी समय उन्होंने स्वदेशी एवं सेवा का भी व्रत लिया।

इस प्रकार गांधीजी से उनका संबध उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया, और सन् १९२६ में तो वह साबरमती-आश्रम में उनके निकट जाकर रहीं। इसके दो वर्ष पहले ही, अर्थात् १९२४ में, उन्होंने सेठ जमनालाल बजाज तथा श्र.श्रीकृष्णदास जाजू को सहायता से 'हिंदू-महिला-मंडल' के नाम से मारवाड़ी-विधवा बहनों की नैतिक एवं आर्थिक उन्नति के लिये एक संस्था स्थापित की थी। यह एक संकीर्ण विचार था, जो समयानुसार गांधीजी के संपर्क में आने से विशाल होता गया, और अंततः उक्त संस्था को वर्धा-स्थित महिलाश्रम का रूप मिला।

सुश्री शांता बहन को स्त्रियों की शोचनीय स्थिति का भली भाँति ज्ञान है। अस्तु, वह अपना सारा समय उनकी सेवाओं में ही लगाती हैं, और वह जो कुछ भी सोचती हैं, उन्हीं के

संबंध में। वह अपनी शक्ति का अपव्यय अन्य किसी भी कार्य में नहीं करतीं। वह इस बात को भली भाँति जानती हैं कि समस्त रूढ़ियों और असहिष्णुता का एकमात्र कारण हमारी अशिक्षा एवं सामाजिक संकीर्णता है। वह यह भी भली भाँति जानती हैं कि केवल एक छोटे-से क्षेत्र में काम करने की अपेक्षा देश के विभिन्न भागों में काम करने के लिये योग्य-से-योग्य कार्यकर्त्री तैयार करना अधिक लाभकर है। इसी-लिये वह महिलाश्रम को सदैव संपूर्ण बनाने की चिंता में लगी रहती हैं। वैसे कुछ समय तक उनका संबंध वनस्थली-महिला-विद्यापीठ से भी रहा है।

उनका जन्म सन् १९०४ में हुआ था। आज वह तेंतालीस वर्ष की हैं। अपने १३-१४ वर्ष की उम्र में उन्होंने जीवन में प्रवेश किया था। उनकी शिक्षा किसी स्कूल अथवा कॉलेज में नहीं हुई थी, अपितु उन्हें घर पर ही सामान्य शिक्षा मिली थी। यह तो स्पष्ट है कि प्रतिभा शिक्षा का आधार पाकर ही अधिक चमकती है। किंतु यों भी प्रतिभा तो प्रतिभा ही है। वह अवश्य ही अपना काम करती है। शांता बहन सच-मुच ही एक प्रतिभावान् महिला हैं, यह तो उनसे मिलकर ही जान सकते हैं। उनसे मिलते ही निस्संदेह आप उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होंगे। वह महिलाश्रम में ही, शिक्षक-निवास के पास, अपने अलग एक मकान में, रहती हैं। वह कभी किसी छात्रा से कड़ी होकर नहीं बोलतीं। फिर उन्हें जो आदर वहाँ

की छात्राओं द्वारा प्राप्त है, शायद ही किसी महिला-कॉलेज के किसी प्रिंसिपल को प्राप्त होगा।

गांधीजी के प्रत्येक आदर्श पर चलना उनके जीवन की कमाई है, सादा और संयमित रहना उनकी विशेषता है, और हँसकर आपका आदर करना उनका अपना धर्म। वह सदैव इस विचार की क़ायल रही हैं कि जो व्यक्ति जिस काम में लगा है, उसे उसी कार्य को पूर्ण सफल बनाना चाहिए। अस्तु, उन्होंने कभी गांधीजी के पीछे-पीछे लगने का प्रयत्न नहीं किया। सदा अपने स्थान पर डटे रहकर ही अपना कार्य करती रहीं, और आज भी कर रही हैं।